विषय-सूची

गुरुकुल-पत्रिका का वार्षिक मूल्य—

देश में – ४ रुपये, विदेश में – ७ रुपये, एक प्रति – ४० पैसे

ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

[गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्य मासिक पत्रिका]

फाल्गुन-चैत्र, २०२९-३०, मार्च-अप्रैल १९७३, वर्षम्-२५, अङ्कः ७-८ पूर्णाङ्कः २९१-९२

वेदयोगाङ्कः

श्रुति सुधा

ओ३म्–पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ।।

यजु. १७।६७

भावार्थः–यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति ततोऽव्याहतगत्याऽभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा ।

ओ३म्–अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ।।

यजु १७।७१।

भावार्थः–यो योगी तप आदिसाधनैर्योगबलं प्राप्यासंख्यप्राणिशरीराणि प्रविश्यानेकनेत्रादिभिरङ्गैर्दर्शनादिकार्याणि कर्तुं शक्नोति । अनेकेषां पदार्थानां धनानां च स्वामी भवति सोऽस्माभिरवश्यं परिचरणीयः ।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

वेद में योग विद्या

श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, शास्त्री, देहली

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये ।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे ।।

ऋग्वेद-८ मण्डल, ११ सूक्त, ६ मन्त्र

भाव:—मेधाबुद्धि सम्पन्न मरणधर्मा उपासक जीवात्मा हम, प्रापणीय ज्ञान स्वरूप हृदयस्थ अ+उ+म रूप परमेश्वर को अपनी रक्षा तथा विज्ञानोपलब्धि के लिये वेद मन्त्र स्तुतियों के द्वारा प्राणों मे आह्वान करते हैं ।।

ब्रह्म की प्राप्ति कैसे और कहां होती है

महर्षिदयानन्द सरस्वती स्वरचित ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में मुण्डकोपनिषद् १.२.११ के भाषार्थ में लिखते हैं—

(क) "(तप: श्रद्धे) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं । जो लोग अधर्म को छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्यादि कर्म करके संन्यास वा अन्य किसी आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राण द्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य मे प्रवेश करके (विरजा:) अर्थात् सब दोषों से छूट के, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सबसे सूक्ष्म (अमृत:) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं । जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें ।'

(ख) 'अथ (यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् ब्रह्म का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्व शक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है । छान्दोग्योपनिषद् ८.१.१"

ख—भाग में ऋषि दयानन्द स्पष्ट लिखते हैं कि 'वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है ।' इस वचन से सिद्ध है कि महर्षि परमात्मा का साक्षात् कर चुके थे, यदि ऐसा प्रत्यक्ष न होता तो वह यह लिखते कि 'ईश्वर मिल सकता है' परन्तु ऋषि ने लिखा 'मिल जाता है ।' अत: इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि ऋषि परम योगी थे । इतना ही नहीं आगे ऋषि द्वारा वेद मन्त्रों के भावार्थ से पता चलेगा कि वह न केवल परम योगी ही थे अपितु वेदमन्त्रार्थ द्रष्टा, पूर्णतत्त्वज्ञ और महावैज्ञानिक भी थे ।

महर्षि पतञ्जलि ने स्व रचित योगदर्शन में योग के सभी नव अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन अष्टाङ्गयोग के पिछले तीन अंगों को मिलाने

पर नवमांग 'संयम' कहलाता है इन सब पर पूर्ण प्रकाश डाला है। योगदर्शन पर ऋषि व्यास का भाष्य भी है तथा अन्य विद्वानों के व्याख्यान, तथा टीका टिप्पणियां भी उपलब्ध हैं। ऋषि-दयानन्द ने भी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपासना विषय में योगदर्शन के अनेक सूत्रों का विवरण दिया है और उन पर अपना संस्कृत भाष्य भी लिखा है। कहीं कहीं व्यास भाष्य को भी उद्धृत किया है। उससे भी योग जानने के इच्छुकों को पूरा लाभ मिल सकता है। सौभाग्य यह है कि ऋषि ने आर्य भाषा में भी इन सूत्रों का व्याख्यान किया है।

क्योंकि गुरुकुल पत्रिका का यह वेद विशेषाङ्क है और इसमें योग विद्या पर भी लेख लिखना है। इस कारण हम अपने लेख में केवल वेद मन्त्रों के ऋषि दयानन्द कृत भाषा भावार्थ को ही उद्धृत करेंगे। वेदमन्त्र, भूमिका अर्थ, संस्कृत पदार्थ, अन्वय और संस्कृत भावार्थ तथा भाषा भाष्य देने से लेख का बहुत विस्तार हो जाता और संस्कृत न जानने वाले सज्जनों को यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता अतः हमने ऋषि द्वारा वेदमन्त्रों के भाषा भावार्थ को ही लिखा है। अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा है।

१–ऋग्वेद (ऋषिभाष्य) के भावार्थ––

क–जो पुरुष वेदविद्या वा सत्य के संयोग से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हैं उनके हृदय में ईश्वर अन्तर्यामी रूप से वेदमन्त्रों के अर्थों का यथावत् प्रकाश करके निरन्तर उनके लिये सुख का प्रकाश करता है इस से उन पुरुषों में विद्या और पुरुषार्थ कभी नष्ट नहीं होते।

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त, १०, मन्त्र ४

ख–जो मनुष्य एकान्त पवित्र निरुपद्रव देश में स्थिर होकर यमादि संयमान्त के नव अंगों का अभ्यास करते हैं, वे निर्मल आत्मा होकर ज्ञानी श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं और जो इन का संग और सेवा करते हैं वे भी शुद्धान्तः करण हो के आत्म-योग के जानने के अधिकारी होते हैं ॥ १ ४८.४

ग–हे योगाभ्यास करने हारी स्त्रि! वह बेला तेरे योगाभ्यास करने के लिये है ॥

१.४८.६

घ–परमेश्वर और बिजुली भी सब आनन्दों को प्राप्त कराते हैं परन्तु इन दोनों का जानने वाला विद्वान दुर्लभ है। ३.६५.३

ङ–वे ही ब्रह्मवेत्ता विद्वान् होते हैं जो धर्मानुष्ठान योगाभ्यास और सत्सङ्ग करके अपने आत्मा को जान और परमात्मा को जानते हैं। और वे ही मुमुक्षु जनों के लिये इस ज्ञान के विदित कराने के योग्य होते है ॥ १.१४३.३

च–जो योगाभ्याम से समाहित चित्त दिव्य योगी जनों को अच्छे प्रकार प्राप्त हो धर्मयुक्त मार्ग म चलते हुए परमात्मा में अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे मोक्ष पाये हुए होते हैं ॥

१.१६२.२१

छ–परमात्मा विषयक उपदेश से ही साधक-जन मोक्ष पाते हैं और किसी तरह से मोक्ष को प्राप्त कभी नहीं हो सकते। १.१६४.२१

ज–जिज्ञासुजन योगारूढ पुरुषों से योग शिक्षा को प्राप्त होकर पुरुषार्थ से योगाभ्यास कर सिद्ध होते हैं। १.१७६.६

झ–कोई भी जन सत्सङ्ग योगाभ्यास, विद्या और उत्तम बुद्धि के विना पूर्ण विद्या और धन पाने के योग्य नहीं होता है। २.२१.५

ञ–उपासना किया हुआ सर्वज्ञ ईश्वर सब ओर से दुष्टाचरण से निवृत्त कर श्रेष्ठाचार में प्रवृत्त कर अभयमुक्ति पद को प्राप्त कराके सब मुक्त जीवों को आनन्दित करता है। इसी कारण वही सब को उपासना करने योग्य है। २.४१.१२

ट–विद्वान् जन योग विद्या से अपने आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश देख औरों को दिखला कर ज्ञान से उन्हें बढ़ाते हैं। ३.१.३

ठ–योगाभ्यास विज्ञान से सेवा किया हुआ जगदीश्वर चिदाकाश में मुक्त जीवों को शीघ्र प्रवेश कर विहार कराता है। ३.३.४

ड–ब्रह्मचर्य्य, विद्या, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान और सत्पुरुषों के संग से साक्षात् किया हुआ आत्मा और परमात्मा सब दोषों को जला के सुन्दर प्रकाशित ज्ञान को प्रकट करता है ॥ ३-९-५

ढ–जगदीश्वर योगियों को वायु के द्वारा वृद्ध दूत के सदृश दूर देशों में वर्त्तमान समाचार वा पदार्थ को जनाता है ॥ ३-५५-९

ण–ईश्वर का हृदय में सब ध्यान करो ॥ ३-५५-११

त–योगाभ्यास के बिना बुद्धि नहीं बढ़ती और बुद्धि के बिना धन और परमात्मा की सिद्धि नहीं होती है ॥ ४-२४-४

थ– सब योगाभ्यास करके प्राणों में वर्त्तमान परमात्मा को जानकर दुःखों का नाश करो ॥

द–जो मनुष्य शुद्ध बुद्धि और योगाभ्यास से सर्वसुख देने तथा सर्व जगत को धारण कराने वाले पवन को प्राणायाम में बश करते हैं, वे सर्व सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ ६-४९-४

ध–जो योगी जन परमात्मा को समाधि से अपने आत्मा में अच्छे प्रकार आरोप के औरों को उपदेश देते हैं उन के लिये तुम शरीर, मन और धन को धारण करो ॥ ७-२०-७

न–जिस आकाश में, प्राणों में वा जलों में सब जगत् जीवन धारण करता है वा जिन प्राणों में स्थित योगी जन परमात्मा को प्राप्त होता है वा जहां बिजुली प्रविष्ट है उन जलों को तुम जान कर रक्षा युक्त होओ ॥ ७-४९-४

२–यजुर्वेद (ऋषिभाष्य) के भावार्थ––

क–सत्य प्रेम से उपासना किया हुआ परमेश्वर जीवों को दुष्टमार्गों से अलग और धर्ममार्ग में स्थापन करके इस लोक के सुखों को उनके कर्मानुसार देता है ॥ ५ अध्याय, ३६ मन्त्र

ख–योग विद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान नहीं हो सकता और न पूर्णविद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है ॥ ७-२८

ग–ईश्वर योगाभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करने वाले योगी पुरुष के योग को अत्यन्त बढाता है ॥ ७-४०

घ–ईश्वर सब जीवों के लिये सत्य और और असत्य का बोध कराने वाला है। जिस किसी पुरुष को परमेश्वर के जानने की इच्छा हो वह योगाभ्यास करके अपने आत्मा में उसे देख सकता है अन्यत्र नहीं ॥ ७-४२

ङ–कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेम भक्ति के बिना योग सिद्धि को नहीं प्राप्त होता और

जो प्रेम भक्ति युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योग सिद्धि देता है ॥ ७-४३

च—जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भ विद्या चाहे वह यम आदि योग के अंग और क्रिया कौशलों से अपने हृदय को, शुद्ध तत्त्वों को जान, बुद्धि को प्राप्त और इनके गुण कर्म तथा स्वभाव से जान के उपयोग लेवे फिर ईश्वर को जान और अपने आत्मा में निश्चय करके अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करें ॥ ११-१

छ—जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या को यथा शक्ति सेवन करें उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थ विद्या का अभ्यास करें तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो होवें ॥ ११-२

ज-जो पुरुष योगाभ्यास करते हैं, वे अविद्यादि क्लेशों को हटाने वाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर सकते हैं ॥ ११-३

झ—जो नियम से आहार विहार करने हार जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे तत्वज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं ॥ ११-४

ञ—योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का सङ्ग करें। उनके संग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। योगाभ्यासियों के संग से योग विधि सहज मे प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के बिना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये उस योग विधि के साथ ही मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें ॥ ११-५

ट—योगी नाड़ियों में परमेश्वर को समाधि योग को प्राप्त होते हैं ॥ १२-६७

ठ—विद्वानों से योगाभ्यास की शिक्षा और योगसाधनों को बनाकर योगाभ्यास करो ॥ १२-६८

ड—जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् योगी राज यथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करने और जीवन मुक्त दशा में परोपकार करते हुए विदेह मुक्ति अवस्था में न सूर्य्य लोक और न पृथिवी पर नियम से बसते हैं किन्तु ईश्वर में स्थिर हो के अव्याहत गति से सर्वत्र विचरा करते है। १७-१४

ढ—जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १७-६७

ण-अच्छे विद्वान् योगी जन जितेन्द्रिय होकर नियम से अपने को अभीष्ट परमात्मा को पाकर आनन्द का विस्तार करते हैं ॥ १७-६८

त—जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम) के बल को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्रादि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है। उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये ॥ १७-७१

थ—जो अच्छे कार्यों को करके योगाभ्यास करने वाले विद्वान् के संग और प्रीति से परस्पर संवाद करते हैं वे सब के अधिष्ठान परमात्मा को प्राप्त होकर सिद्ध होते हैं ॥　　१७-७३

द—इस संसार में योग के संस्कार से युक्त जिस जीव का पवित्र भाव मे जन्म होता है वह संस्कार की प्रबलता से योग ही के जानने की चाहना करने वाला होता है। और उसका जो सेवन करते हैं वे भी योग की चाहना करने वाले होते हैं, उक्त सब योगी जन जैसे अग्नि इन्धन को जलाता है वैसे समस्त दु:ख अशुद्धि भाव को योग से जलाते हैं ॥　　१७-७५

ध—जो युक्त आहार व्यवहार करने हारे वेदों को पढ़, योगाभ्यास कर, अविद्यादि क्लेशों को छुड़ा, योग की सिद्धियों को प्राप्त हो और उनके अभिमान को भी छोड़ के कैवल्य को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं ॥ १९-७४

न—हे मनुष्यो ! जैसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रकाशमान है वैसे सर्व जगत् में परमात्मा प्रकाशमान है, जो योगाभ्यास से उस अन्तर्यामी परमेश्वर को अपने आत्मा से युक्त करते है वे सब ओर से प्रकाश को प्राप्त होते हैं ॥　　२३-५

प—विद्या, सज्जनों का संग और योगाभ्यास से परमात्मा को शीघ्र प्राप्त होते हैं ॥　　२३-६

फ—हे मनुष्यो ! जिस से बड़ा दयावान् न्यायकारी और अत्यन्त सूक्ष्म कोई भी पदार्थ नही वा जिसने वेदप्रकट करने द्वारा सब मनुष्य सुशोभित किये वा जिसने अद्भुत ज्ञान और धन जगत् में विस्तृत किया और जो योगाभ्यास से प्राप्त होने योग्य है वही ईश्वर हम सब लोगों को अति उपासना करने योग्य है यह तुम जानो　　२६-३

ब—हे मनुष्यो ! आप लोग बलादि गुणों से युक्त सब के धारण करने वाले वायु को जान के धन और बुद्धि को बढ़ावें। जो एकान्त में स्थित होके इस प्राण के द्वारा अपने स्वरूप और परमात्मा को जानना चाहे तो इन दोनों आत्माओं का साक्षात्कार होता है ॥　　२७-२४

भ—हे मनुष्यो ! जो स्थूल पंचतत्व दीख पड़ते हैं उनको सूक्ष्म प्रकृति का कार्य पंचतन्मात्र नामक से उत्पन्न हुए जानो, जिनके बीच जो एक सूत्रात्मा वायु है वह सब को धारण करता है, यह जानो जो उस वायु के द्वारा योगाभ्यास से परमात्मा को जानना चाहो तो उसको साक्षात् जान सको ॥　　२७-२५

म—जो सत्यभाव से परमेश्वर की उपासना करते, यथा शक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं उनको दयालु ईश्वर पापाचरण मार्ग से पृथक् कर धर्म युक्त मार्ग में चला के विज्ञान देकर धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिये समर्थ करता है, इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना कदापि न करें ॥　　४०-१६

य—सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जो मैं यहां हूं वही अन्यत्र सूर्यादि लोक में, जो अन्य स्थान सूर्य्य आदि लोक में हूं वही यहां हूं। सर्वत्र परिपूर्ण आकाश के तुल्य व्यापक मुझ से भिन्न कोई बड़ा नहीं, मैं ही सब से बड़ा हूं। मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा मेरा निज का नाम

'ओ३म्' यह है। जो मेरा प्रेम और सत्याचरण से शरण लेता उनकी अन्तर्यामी रूप से मैं अविद्या का विनाश कर उसके आत्मा का प्रकाश करके शुभ गुण कर्म स्वभाव वाला कर सत्य स्वरूप का आवरण स्थिर कर योग से हुए विज्ञान को दे और सब दुःखों से अलग करके मोक्ष सुख को प्राप्त कराता हूं ॥ ४०-१७

३—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (उपासना विषय)

क—उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को ईश्वर मे ठीक ठीक युक्त करते हैं तथा अपने ज्ञान को भी सदा परमेश्वर में स्थिर करते हैं ॥
ऋ० ५-८१-१

ख—योग को करने वाले मनुष्य तत्त्वाय अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये जब अपने को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं ॥ यजु० ११-१॥

ग—उपासना योग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश रूप आनन्द को प्राप्त करें। यजु०११-२

घ—देव परमेश्वर भी उपासकों को अत्यन्त सुख को दे के उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्द स्वरूप प्रकाश को करता है। यजु० ११-३

ङ—उपासना योग से तुम लोग सुखों को प्राप्त हो। इसमें सन्देह मत करो। मैं ईश्वर तुम को उपासना योग में स्थिर करता हूं ॥ यजु० ११-४

च—जो विद्वान् योगीलोग और ध्यान करने वाले यथायोग्य विभाग मे नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं, योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं। अपने ज्ञान और आनन्द को विस्तृत करते हैं और परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ यजु० १२-६७

छ—हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाडियों में ध्यान करके परमानन्द का विस्तार करो। उपासना योग वृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥ यजु० १२-६८

ज—सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु तो प्राण है उसको प्राणायाम की रीति से, अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं ॥
ऋ० १-६-१

झ—ज्ञान रूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से मुक्त लोग मुख्य सुख में प्रसन्न रहते हैं जो परमेश्वर के सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्ष भाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। उनके जो प्राण हैं उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीति पूर्वक देखते और मिलते हैं ॥
ऋ० १०-६२-१

ञ—हे अग्ने परमेश्वर हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आप को अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और आपका ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें ॥ यजु० १६-७०

ट—हे परमेश्वर हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये ॥ यजु० १५-५४

४–सत्यार्थप्रकाश (सप्तम समुल्लास)

हे जगदीश्वर ! जिसमें सब योगी लोग इन भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल कर सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है। जिसमें ज्ञान क्रिया है पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है उस योग रूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन विज्ञान युक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥ यजु० ३४-४

५–संस्कार विधि (संन्यास प्रकरण)

क–शमादि गुणयुक्त सन्यासिन् ! तू यथार्थ बोलने सत्यभाषण करने से, सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और प्राणायाम योगाभ्यास से सरलता से निष्पन्न होता हुआ अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को पवित्र कर परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये सब ओर से गमन कर ॥ ऋ० ९-११३-१

ख–हे परमात्मन् ! जिस आप में कामना करने योग्य शुद्ध कामना वाले लोग यथार्थ ज्ञान युक्त शुद्ध विज्ञान युक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं उस अपने स्वरूप में मुझ को मोक्ष प्राप्त कीजिये और उस परमानन्दैश्वर्य के लिये कृपा से प्राप्त हूजिये ॥ ऋ० ९-११३-९

ग–हे सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! जिस आप में सब कामनाएं प्राप्त होती हैं, उसी अपने स्वरूप में परमैश्वर्य के लिये मुझ को जन्म मृत्यु के दुःख से रहित मोक्ष युक्त जिस मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता उस मुक्ति की प्राप्ति वाला कीजिये और इसी प्रकार सब जीवों को सब ओर से प्राप्त हूये ॥ ऋ० ९-११३-११



गणतन्त्र-दिवस पर स्थानीय भल्ला कालेज के विशाल प्रांगण में नगर के लब्धप्रतिष्ठ नागरिकों पत्रकारों, नेताओं तथा एन० सी० सी० के समवेत छात्रों को सम्बोधित करते हुए समारोह के अध्यक्ष कर्नल रघुवीरसिंह शास्त्री।

वैदिक योगसिद्धियां

डा० रामनाथ वेदालंकार

पातंजल योगदर्शन के विभूतिपाद में योग की कुछ सिद्धियों का वर्णन किया गया है। तदनुसार योगी भूत और भविष्य की बातों को जान सकता है, सब प्राणियों की बोली समझ सकता है, पूर्व-जन्म का ज्ञान कर सकता है, दूसरे के चित्त का हाल जान सकता है। वह इच्छानुसार अन्तर्धान हो सकता है, मृत्यु कब होगी यह जान सकता है, हाथी आदि का बल प्राप्त कर सकता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को देख सकता है, ढकी-छिपी या भूमि के अन्दर गड़ी वस्तु का प्रत्यक्ष कर सकता है, दूर से दूर स्थित पदार्थ का अवलोकन कर सकता है, बिना चीर-फाड़ किये शरीर की आन्तरिक स्थिति को जान सकता है, भूख-प्यास को जीत सकता है, अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर सकता है, पानी-कीचड़-कांटों पर बेखटके चल सकता है, आकाश में उड़ सकता है, अणिमा-लघिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर इच्छानुसार छोटा-बड़ा, हलका या भारी हो सकता है। वह चन्द्रमा आदि दूरस्थ पदार्थों को छू सकता है, इच्छाओं को पूर्ण कर सकता है, सबको वश में कर सकता है, दुष्कर कार्यों में भी समर्थ हो सकता है, प्रकृति को अपनी इच्छानुसार बदल सकता है, अद्भुत रूप, लावण्य और अपरिमित बल पा सकता है, देह को वज्र के समान कठोर कर सकता है। पृथिवी आदि के धर्मों की बाधा को दूर कर वह चाहे तो पानी में घुसकर भी गीला होने से तथा अग्नि में घुसकर भी जलने से बच सकता है।

ये तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक सिद्धियां किस रूप में कहां तक संभव या असंभव हैं, इस विषय में प्रामाणिकता के साथ कहने का अधिकारी कोई योगी ही हो सकता है। कई विद्वानों का मन्तव्य है कि पातंजल योगदर्शन के सिद्धियों से सम्बद्ध सूत्रों का वह अभिप्राय है ही नहीं, जैसा समझा जाता है, या जैसा व्यासभाष्य और भोज-वृत्ति में बताया गया है। वे उन सूत्रों की ऐसी व्याख्या करते हैं, जिससे इन सिद्धियों में कोई अनोखा-पन नहीं रहता। इन्हें वे सर्वसामान्य की समझ में आने वाला साधारण सा रूप देने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं जो इन सिद्धियों में पूर्णतः विश्वास करते हैं। किसी पक्ष में कोई निर्णय देने का अधिकारी अपने आपको न समझते हुए भी हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि सर्वसाधारण लोग किसी बात को नहीं कर सकते या उनकी समझ में वह बात नहीं आती, केवल इसी हेतु से उस बात को असंभव कह देना उचित नहीं है। कुछ सिद्धियों का प्रदर्शन करने वाले लोग आज भी विद्यमान हैं। आज भी ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने प्राणों को रोक कर महीना-दो-महीने तक भूमि में गड़े रह सकते हैं। उनका कथन है कि अभ्यास से यह अवधि कई वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है। आज भी ऐसे अभ्यासी हैं जो कुछ समय तक हृदय की गति को रोक कर डाक्टरों को चकित कर देते हैं। ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भी हैं जो एक समय में बीसियों लोगों के प्रश्नों का एक साथ हल करने में अपने मन को लगा सकते हैं। एक व्यक्ति को अरबों की संख्या का एक गुणन का प्रश्न मौखिक हल करने को दे दिया गया, उसके साथ ही अनेक लोगों ने अपने-अपने पृथक् सैद्धान्तिक प्रश्न भी उत्तर देने के लिए उसे बता दिये। वह एक साथ सबका हल सोचता रहा। अन्त में उसी क्रम से जिस क्रम से उससे प्रश्न पूछे गये थे उसने सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे दिया। यदि इस

प्रकार के प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति आज न मिलते तो इन सब बातों को भी असंभव ही कहा जाता।

कथाओं और किंवदन्तियों में तो योगियों की आश्चर्यजनक सिद्धियों की चर्चा प्रायः सुनने में आती ही रहती है। महाभारत के उस योगी की कथा पाठकों को स्मरण ही होगी जिसने वृक्ष पर बैठे हुए एक पक्षी को सिर पर बींट कर देने के अपराध में अपने कुपित दृष्टिनिक्षेप मात्र से नीचे गिरा दिया था, और एक पतिव्रता योगिनी को यह घटना घर बैठे ज्ञात हो गई थी तथा योगी जब उसके घर भिक्षा मांगने आया और उस साध्वी के देर से भिक्षा लेकर निकलने पर लाल-पीला होने लगा, तब 'मुझे वह पक्षी मत समझना' यह कह कर उसने योगी को लज्जित कर दिया था। ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में भी योगसिद्धि की कई किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। उनके वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में आये कतिपय वचनों से भी ज्ञात होता है कि वे योगसिद्धियों में विश्वास रखते थे, यद्यपि उनके प्रदर्शन द्वारा लोकवञ्चना करने को वे उचित नहीं समझते थे।

योगवेत्ताओं का कथन है कि योगाभ्यासियों के मार्ग में सिद्धियां विघ्नरूप होती हैं। जो उनके लुभावने रूप पर ललचा कर साधना को छोड़ देता है और सिद्धियों को ही अन्तिम प्राप्तव्य वस्तु समझ उनका प्रदर्शन करने लगता है, वह योगभ्रष्ट कहाता है। सच्चे योगी तो इन सिद्धियों को लक्ष्य-प्राप्ति के बीच का पड़ाव मात्र समझते हैं और इनके प्रदर्शन से बचते हैं। संभवतः यही कारण है कि अनेक विख्यात योगियों के विषय में संसार को यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि इन कथित सिद्धियों में से भी कोई सिद्धियां उन्हें प्राप्त हैं या नहीं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि योगी की ऊंचाई-नीचाई की जांच सिद्धियों के पैमाने से करना ठीक नहीं है। यह भी संभव है कि कोई अत्यन्त महान् योगी हो, पर वह इन सिद्धियों में से कोई भी सिद्धि करके न दिखा सकता हो, दूसरी ओर एक साधारण योगी जिसने सिद्धियों पर ही अपने सारे अभ्यास को केन्द्रित कर लिया है, कई सिद्धियों का प्रदर्शन कर सकता हो। सिद्धि वही योगी करके दिखा सकेगा जिसने उसके लिए अभ्यास किया है। जो इन सिद्धियों को काम की वस्तु न समझ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता है वह अनायास इन्हें करके नहीं दिखा सकता। हां, यह ठीक है कि यदि वह इनका अभ्यास करने लगे तो बहुत शीघ्र ही इन्हें प्राप्त कर सकता है और संसार को दिखा भी सकता है तथा लोक-कल्याण के लिए भी इनका उपयोग कर सकता है। योगदर्शन में इन सिद्धियों को समाधि में विघ्नरूप ही कहा है, भले ही ये सांसारिक दृष्टिकोण से सिद्धियां कहाती हैं—**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः** ३.३७।

अस्तु, अब हम ऋग्वेद का एक सूक्त विद्वान् पाठकों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिसमें कुछ सिद्धियों का वर्णन प्रतीत होता है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का १३६ वां सूक्त है, जिसमें सात मन्त्र हैं। इनके ऋषि क्रमशः जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश तथा ऋष्यशृङ्ग हैं। इन ऋषियों ने इन मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार कर योगाभ्यास द्वारा इनमें वर्णित सिद्धियों को प्राप्त कर मन्त्रार्थों का जनता में प्रचार किया होगा, अतएव ये इन मन्त्रों के ऋषि कहलाते हैं। सूक्त का देवता 'केशी' या 'केशिनः' है। प्रकृति में केशी सूर्य का नाम है। रश्मिरूपी केशों वाला होने से तथा प्रकाशमान् होने से सूर्य को केशी कहते हैं—**केशी, केशा रश्मयः, तैः तद्वान् भवति, काशनाद् वा** 'निरुक्त १२.२५।' अग्नि और वायु को भी केशी कहते हैं, क्योंकि वायु धूल या जलकण रूपी केशों वाला तथा अग्नि धुएं रूपी केशों वाला है—**अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी**

उच्येते, धूमेन अग्निः, रजसा च मध्यमः निरुक्त १२.२६ । बहुवचनान्त 'केशिनः' का अर्थ सूर्य की किरणें भी होता है । ये सब तो प्राकृतिक अर्थ हैं । मनुष्यों में योगी मुनि केशी होगा । इसका प्रमाण यह है कि इस सूक्त में केशी शब्द तो केवल तीन ही मन्त्रों में है, शेष चार मन्त्रों में 'मुनिः' या 'मुनयः' प्रयुक्त हुआ है । योगी मुनि के पक्ष में केशी का शब्दार्थ होगा 'केशों वाला या जटाजूट-धारी, अथवा अध्यात्मप्रकाश की किरणों से प्रकाशमान' । यहां हमें इस मुनि अर्थ से ही प्रयोजन है, अतः उसी पक्ष में मन्त्रों की व्याख्या करेंगे और यह भी देखेंगे कि इन मन्त्रों से किस किस सिद्धि का संकेत मिलता है ।

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।। १ ।।

अर्थ—(केशी अग्निं बिभर्ति) योगी मुनि अग्नि को धारण कर सकता है, (केशी विषं बिभर्ति) योगी मुनि विष को धारण कर सकता है (केशी रोदसी बिभर्ति) योगी मुनि द्यावापृथिवी को धारण कर सकता है, (केशी दृशे विश्वं स्वः बिभर्ति) योगी मुनि अनुभव करने के लिए दिव्य प्रकाश को प्राप्त कर सकता है । (इदं ज्योतिः केशी उच्यते) योगी के शरीर में विद्यमान यह आत्मज्योति केशी कहलाती है ।

इस मन्त्र से निम्न बातें सूचित होती हैं—

१. योगी को ऐसी सिद्धि प्राप्त हो सकती है कि वह हाथ से आग को पकड़ ले या आग में प्रविष्ट हो जाये, तो भी जले नहीं । योगदर्शन में यह सिद्धि '' **तद्धर्मानभिघातश्च** ।। ३.४५' सूत्र द्वारा प्रकट की गयी है, जिसके व्यासभाष्य में कहा गया है—'**नाग्निरुष्णो दहति**' अर्थात् उष्णता धर्म वाली अग्नि योगी को जलाती नहीं । शरीर पर अकरकरा आदि औषधों का लेप कर लेने पर तो साधारण मनुष्य भी अग्नि में नहीं जलता, जैसा कि जादूगर लोग प्रायः खेल दिखाया करते हैं; परन्तु योगी बिना किसी औषध का लेप किये ही न जलने की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ।

२. योगी विषपान कर सकता है । उसके शरीर पर विष कोई बुरा प्रभाव नहीं करेगा, वह पच जायेगा । मीरा का विषपान प्रसिद्ध है—'जहर का प्याला राणा जी भेज्या, पीबत मीरा हांसी रे' । ऋषि दयानन्द के विषय में कहा जाता है कि उन्हें अनेक बार बिष दिया गया, जिसे वे योगबल से निष्प्रभाव करते रहे ।

३. तीसरी बात मन्त्र में यह कही है कि योगी द्यावापृथिवी को धारण कर सकता है । वैसे तो द्यावापृथिवी परमात्मा द्वारा धृत हैं ही, किन्तु जब मानवीय पापों के बढ़ जाने से विनाश उपस्थित होने लगता है, तब योगी द्यावापृथिवी-वासी मनुष्यों को अपनी दिव्यता की तरंगों से प्रभावित कर उन्हें विनाश से बचाता है, और इस प्रकार अपने कन्धों पर द्यावापृथिवी के भार को उठाता है ।

४. चौथी बात यह कही गई है कि योगी मनुष्य पदार्थों का अनुभव करने के लिए दिव्य प्रकाश या दिव्य ग्रहण-सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है । योगदर्शन में इस सिद्धि का वर्णन '**ततः प्रातिभश्रवणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते** ३.३६' इस सूत्र द्वारा किया गया है । यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर योगी सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत आदि को जान सकता है, कान से सुन सकता है, त्वचा से अनुभव कर सकता है, आंख से देख सकता है, जिह्वा से चख सकता है, नासिका से सूंघ सकता है ।

इन चारों सिद्धियों का वर्णन करने के अनन्तर अन्त में मन्त्र में यह बताया है कि यह केशी है

कौन । योगी के शरीर के अन्दर विद्यमान आत्म-ज्योति ही 'केशी' है, क्योंकि वस्तुतः सब सिद्धियां उस आत्मा को ही प्राप्त होती हैं ।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत । २

अर्थ—(वातरशनाः) जिन्होंने वायु को रस्सी की तरह पकड़ लिया है ऐसे (मुनयः) योगी मुनिजन (पिशङ्गा मला वसते) पिंगल वर्ण के मटमैले केशों को, जटाजूटों को, धारण करते हैं। (यद्) जब (देवासः अविक्षत) उनमें दिव्य शक्तियां प्रविष्ट हो जाती हैं तब वे (वातस्य ध्राजिम् अनुयन्ति) वायु की गति के साथ-साथ उड़ने लगते हैं।

इस मन्त्र में योगी के वायु के साथ-साथ आकाश में उड़ने की सिद्धि का संकेत है। जैसे नट लोग रस्सियों पर दौड़ते और नृत्य करते हैं, वैसे योगी वायु रूपी रस्सी के सहारे आकाश में उड़ सकता है। योगदर्शन में आकाशगमन की यह सिद्धि निम्न सूत्र में वर्णित है—**कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्** (३.४२), अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और हलकी रुई से तदाकारता कर लेने से योगी आकाश में गमन कर सकता है। इस सूत्र का व्यासभाष्य इस प्रकार है—

यत्र कायस्तत्राकाशं, तस्यावकाशदानात् । कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिः। तत्र कृतसंयमो जित्वा तत् सम्बन्धं लघुषु तूलादिषु आपरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्भवति । लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति । ततस्तु ऊर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति । ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ।

आशय यह है कि 'जहां शरीर है वहां आकाश भी अवश्य है, क्योंकि आकाश शरीर को स्थित होने के लिए खाली स्थान देता है । आकाश और शरीर का जो यह सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और हलकी रुई आदि में परमाणु पर्यन्त संयम करने से योगी रुई के समान हलका हो जाता है। हलका हो जाने से वह पैरों से पानी के ऊपर चल सकता है । फिर मकड़ी के जाले पर विहार कर सकता है । फिर सूर्य की किरणों के सहारे चढ़-उतर सकता है । तदुपरान्त उसमें यह शक्ति आ जाती है कि इच्छानुसार निर्विघ्न आकाश में विहार कर सके ।'

जैसे यहां मकड़ी के जाले तथा सूर्य की किरणों के सहारे आकाशगति का वर्णन है, वैसे मन्त्र में वायु के सहारे आकाश में उड़ना कहा गया है ।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ । ३ ।

अर्थ—(मौनेयेन उन्मदिताः वयम्) मुनित्व से निरतिशय आनन्द को प्राप्त हुए हम (वातान् आ तस्थिम) वायु पर आरूढ़ हो गये हैं। (मर्तासः) हे मनुष्यो, (यूयम्) तुम (अस्माकं शरीरा इत्) केवल हमारे शरीरों को ही (अभिपश्यथ) देखते हो ।

योगिजन कह रहे हैं कि हमने योगाभ्यास द्वारा वायु पर आरूढ़ होने की सिद्धि प्राप्त कर ली है । पर तुम्हें हमारी इस महिमा का ज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि तुम तो केवल हमारे शरीरों को ही देख सकते हो । बाहर से देखने से तो हम भी वैसे ही दिखाई देते हैं, जैसे अन्य मनुष्य हैं । एवं इस मन्त्र में भी गत मन्त्र के समान वायु के साथ-साथ आकाश में उड़ने का वर्णन है ।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् ।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः । ४।।

अर्थ—(सौकृत्याय हितः) शुभ कर्मों के लिए नियुक्त (देवस्य देवस्य सखा) प्रत्येक देवजन के साथ मित्रभाव रखने वाला (मुनिः) मुनि (विश्वा

रूपा अवचाकशत्) सब रूपों को देखता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशमार्ग से उड़ता है ।

इस मन्त्र में फिर योगी के आकाशविहार का वर्णन है । वह सब मनुष्यों के साथ मैत्रीभाव रखता हुआ उनके कल्याणार्थ आकाश में घूमता है और आकाश से भूमि की सब अवस्थाओं को देखता जाता है । जहां-कहीं किसी को कष्ट में पड़ा हुआ देखता है, उसकी सहायता करता है ।

वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥५॥

अर्थ—यह मुनि (वातस्य अश्वः) वायु का भोक्ता है, (वायोः सखा) वायु का साथी है। (अथो) और (देवेषितः मुनिः) परमेश्वर से प्रेरणा प्राप्त यह मुनि (उभौ समुद्रौ आक्षेति) दोनों समुद्रों में निवास कर सकता है (यश्च पूर्वः उत अपरः) जो कि पूर्व और अपर अर्थात् निचला और उपरला समुद्र है ।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि योगी बहुत दिनों तक निराहार केवल वायु के सहारे जीवित रह सकता है । साथ ही उसके विषय में यह भी कहा गया है कि वह पूर्व और अपर दोनों समुद्रों के अन्दर भी निवास कर सकता है । पूर्व समुद्र से निचला पार्थिव समुद्र तथा उत्तर समुद्र से उपरिवर्ती मेघ अभिप्रेत है । योगी जितनी देर चाहे समुद्र के पानी में डुबकी लगाये रह सकता है, तथा जब चाहे बादलों की सैर कर सकता है ।

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥६

अर्थ—(अप्सरसाम्) विद्युतों के, (गन्धर्वाणाम्) सूर्यकिरणों को धारण करने वाले ग्रहोपग्रहों के, तथा (मृगाणाम्) पशुओं के (चरणे) विचरणस्थान में (चरन्) घूमता हुआ (केशी) मुनि (केतस्य विद्वान्) ज्ञान का पण्डित, (सखा) सबका मित्र, (स्वादुः) मधुर-स्वभाव तथा (मदिन्तमः) अतिशय आनन्ददायक होता है ।

यहां योगी मुनि की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि वह अप्सराओं, गन्धर्वों तथा मृगों के विचरणस्थान में विहार कर सकता है । अप्सरा का अर्थ विद्युत् है—**अप्सु सरन्तीति अप्सरसः ।** गन्धर्व का अर्थ है सूर्य-किरणों को धारण करने वाले ग्रहोपग्रह—**गाः सूर्यरश्मीन् धरन्तीति गन्धर्वाः ।** मृग पशुवाची प्रसिद्ध ही है । एवं योगी विद्युतों के स्थान बादल में, ग्रहोपग्रहों की भ्रमण-कक्षा में तथा पशुओं के विचरण-स्थान बीहड़ वनों, गिरि-कन्दराओं आदि में विहार कर सकता है । वह योगी ज्ञान-सम्पन्न, सबका मित्र, सबसे मधुर व्यवहार करने वाला तथा आनन्ददायक होता है ।

वायुरस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा ।
केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणापिबत् सह ॥७॥

अर्थ—(यत्) जब (केशी) योगी मुनि (रुद्रेण सह) रुद्र के साथ (पात्रेण) पात्र द्वारा (विषस्य अपिबत्) विष का पान करता है, तब (कुनन्नमा पिनष्टि स्म) कुनन्नमा उस विष को पीसती है, (वायुः अस्मै उपामन्थत्) वायु उस योगी के लिए उस विष को मथती है ।

यहां पुनः योगी के विषपान का वर्णन है, जिसका संकेत प्रथम मन्त्र में भी हो चुका है । योगी पात्र में भर कर विष पी जाता है । रुद्र उसका साथ देते हैं । रुद्र प्राणों का नाम है—**प्राणा वाव रुद्राः** (छान्दो. उप. ३।१६।३) । कुनन्नमा अर्थात् दन्तपक्ति उस विष को चबा-चबा कर पीसती है—**कुं पार्थिवमन्नं पिष्ट्वा भृशं नमयति मृदूकरोतीति कुनन्नमा दन्तपक्तिः ।** जिह्वासहचरित मुखवर्ती वायु उसे मथता है । इस प्रकार मुख में चबाया तथा मथा जाकर वह विष योगी के उदर

में पहुंचता है और वहां योगी उसे अपने योगबल से पचा लेता है।

इस मन्त्र के साथ सूक्त समाप्त होता है। संक्षेप में इस सूक्त में वर्णित योगसिद्धियां निम्न हुई—अग्नि को हाथों से पकड़ लेना, विष पी लेना द्यावापृथिवी को धारण करना, सूक्ष्म-व्यवहित-दूरस्थ-भूतकालिक-भविष्यकालिक आदि वस्तुओं को जान लेना, वायु के साथ-साथ आकाश में उड़ना, पानी के अन्दर देर तक रह सकना, बादल-ग्रहोपग्रह आदि में विचरना। उक्त मन्त्रों के सूर्यादिपरक अर्थ भी बहुत सुन्दर हैं, किन्तु प्रकृत में मुनि परक या सिद्धि-परक अर्थों से ही प्रयोजन होने के कारण उन्हीं तक सीमित रहा गया है। वेदों के अन्य कई सूक्त या मन्त्र भी सिद्धिपरक व्याख्यात हो सकते हैं। आशा है विद्वज्जन इस दिशा में विचार करेंगे।

---o---

आर्य वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा आन्तर या बाह्य कर्म अथवा अपस् द्वारा जो कि देवों के प्रति यज्ञरूप होता है अपने आपको परिपूर्ण करने की इच्छा रखता है। पर यह कर्म एक मात्र, एक प्रमाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहण के रूप में भी चित्रित किया गया है। आर्य मनुष्य ऊं भाइयों की तरफ जाने का यत्न करता है, अपने प्रमाण में, जो प्रमाण कि एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनों हैं। संघर्ष करके अपने मार्ग को बनाता है। यही उमका आर्यत्व है।

—श्री अरविन्द।

वेद प्रतिपाद्यो योगः

श्री पं० विद्यानिधि शास्त्री व्याकरणाचार्यः

वेदालंकारभूत ! प्रियवर भगवद्दत्त ! विद्वद्वरेण्य
श्रेयः प्रेयः पथस्थस्त्वमसि ननु तवश्रेष्ठसम्पादकत्वे ।
नूत्नः श्लाध्यः समिद्धो मणिरिव मसृणो
वेदयोगाभिधोऽयं ।
ख्यातोऽङ्कः पत्रिकायां विलसतु विदधत्
स्वामभिख्यामपूर्वाम् ॥१॥

श्रीपतञ्जलिमुनि विरचिते योगदर्शनशास्त्रे साधनपादे 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' इति सूत्रं प्रसिद्धम् । तत्रत्यव्यासभाष्यस्थोऽयं श्लोकः सुतरां सर्वविदितश्चकास्ति—स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति ।

अस्यायं भावः—स्वाध्यायात् वेदाध्ययनात् योगं समाधिं चित्तवृत्तिनिरोधरूपं ध्यानयोगं ज्ञानयोगं कर्मयोगं वा आसीत अनुतिष्ठेत् । अत्र स्वाध्यायशब्देन वेदरूपोऽर्थः परिगृह्यते । स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्यादिप्राचीनाचार्यवचनेषु वेदार्थस्यैव प्रसिद्धत्वात् । पुरा प्रतिशाखं वेदानामध्ययनं प्रक्रम्यते स्म । अतः स्वाध्यायात् वेदाध्ययनात् इत्यर्थः स्फुटीभवति । ल्यब्लोपे च पञ्चमीमाश्रित्य स्वाध्यायात्' इत्यस्य स्वाध्यायं वेदाध्ययनं विधायेत्यर्थः सम्पद्यते । एव योगात्' इत्यपि ल्यब्लोपे पञ्चमी । योगसमाधि विधाय च स्वाध्यायं वेदाध्ययनं आमनेत् अभ्यस्येत् । एवमुभयोः स्वाध्याययोगयोः सम्पत्त्या सम्पादनेन परमात्मा परं ब्रह्म प्रकाशते प्रकाशितं भवति । श्लोकोऽयं वेदाभ्यासेन सह योगाभ्यासस्यावश्यकत्वं प्रतिपादयति । तथा हि—

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य परमं तप उच्यते ।
तपसस्तु पराकाष्ठा योगाभ्यासोऽस्ति योगिनः ॥

वेदाभ्यासो विद्याभ्यासः । योगाभ्यासश्च व्रताभ्यास इत्यनर्थान्तरम् । इत्थं विद्यास्नातकः सन् व्रतस्नानकोऽपि स्यादिति भावः पर्यवस्यति । न केवलं वेदाभ्यासेनैव सन्तोष्टव्यं प्रत्युत वेदमभ्यस्यन् योगमप्यभ्यस्येत् तदैव मानवजन्म साफल्यं जायते इति ।

किं च श्लोकेनानेन वेदविद्यायां योगविद्याया अपि संकेताः सन्तीति सूच्यते । ये जना वेदं गम्भीरतयाऽधीयते ते वेदे विद्यमानान् स्फुटान् अस्फुटान् वा योगविषयक संकेतान् मन्त्रपदेषु प्रत्यक्षमुपलभन्ते । अत्र निबन्धे ह्याम्नाये समाम्नातानां योगविद्याविषयकाणां संकेतानां निदर्शनभूताः कतिपये मन्त्राः सार्थकाः समुदाह्रियन्ते । तद्यथा—यजुर्वेदस्य एकादशेऽध्याये आदितोऽष्टौ मन्त्राः स्पष्टमेव योगविद्या रहस्यं प्रकटयन्ति । ब्राह्मणकारैश्च ते सावित्रहोम शब्देन व्यपदिश्यन्ते । सर्वेष्वपि तेषु मन्त्रेषु सवितृशब्दोपादानात् सवितैवमुख्यो देवः। तमुद्दिश्यैव होमो हविर्दानमात्मयजनं वा विधेयमिति तात्पर्यम् । वयं तेष्वेषु मन्त्रेषु स्पष्टं योगविद्याविधानमुपलभामहे । कथमितिचेदित्थम् । दृश्यतां प्रथमोमन्त्रः—

१—युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः । अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ यजुर्वेद ११।१ ॥

अस्यायमर्थः परिस्फुटति—सविता आदित्यः । उपलक्षणतया आदित्यब्रह्मचारी विवक्षितः । स प्रथमं पूर्वं मनः अन्तः करणं युञ्जानः युज्यमानः । योगः समाधिः । तद्विषयीकुर्वाणः । युज समाधौ, युजिर् योगे इत्युभयोरपि धात्वोः 'योग' इति समानं रूपम् । 'सृजियुज्योः श्यंस्तु इति वार्तिकेन कर्मकर्तरि श्यना भाव्यम् । छान्दसत्वात् तदभावः । ब्रह्मचारी

योगं युज्यमानः इत्यर्थे सविता प्रथमं मनो युज्यमान इति प्रयोक्तव्ये युञ्जान इति प्रयुक्तम् । शब्दभेदेऽप्यर्थो न भिद्यते । तदयमर्थः—सविता आदित्य ब्रह्मचारी योगं चिकीर्षुः प्रथमं मनः युञ्जानः मनः समाधिं युज्यमानः धियः कर्माणि बुद्धीवा तत्वाय तत्वा । छन्दसि क्त्वो यगागमः । तनित्वा मनोनुकूलानि विधायेत्यर्थः । अग्नेः ज्ञानप्रकाशस्वरूपस्यात्मनः परमात्मनो वा ज्योतिः प्रकाशं निचाय्य निश्चयेन दृष्ट्वा । चायृ पूजानिशामनयोः । निशामनमन्तःप्रेक्षणम् । अन्तर्निरीक्ष्य पृथिव्या अधि पृथिवीविकारेभ्योदेहेन्द्रियादिभ्यः स्थूलेभ्यो जडेभ्यः उपरि ततः पृथग्भूतं आत्मज्योतिः आभरत् आहरत् । छन्दसि हस्य भः लिङर्थे लेट् । आहरतु स्वीकरोत्वित्यर्थः । न खलु जडपदार्थेष्वास्थावान् भवेत्, अपितु निजां चितिशक्ति साक्षात्कृत्य तामेवोपाददीत । मनुष्येण ब्रह्मचारिणा सता योगिना भाव्य,मनोबुद्धीन्द्रियाणि संयम्य परात्मज्योति र्द्रष्टव्य मिति सम्पिण्डितार्थः ।

२– युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ।।यजुः ११।२ ।।

वयं साधारणा मनुष्या देवस्य दिव्यगुणयुक्तस्य सवितुः आदित्यब्रह्मचारिणः सवे प्रसवे प्रशासने सन्तः युक्तेन योगसमाधियुक्तेन मनसा चित्तेन शक्त्या निजसामर्थ्यमपेक्ष्य स्वर्ग्याय स्वर्गस्य सुखविशेषस्य निमित्तं स्वर्ग्यं, तस्मै सुखविशेषप्राप्तिनिमित्ताय ब्रह्मानन्दायेति यावत् यतेमहीति शेषः । सोपस्काराणि सूत्राणीतिवत् मन्त्रा अपि सोपस्कारा वाक्याध्याहारयुक्ता भवन्तीति बोध्यम् ।

३– युक्त्वाय सविता देवान्त् स्वर्यतोधिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।
यजुः ११।३।

सविता आदित्यब्रह्मचारी धिया बुद्धया सत्कर्मणा वा स्वः सुखयुक्तं दिवं द्योतमानमात्मलोकं यतः गच्छतः । इणः शतरि द्वितीयाबहुवचने रूपम् । देवान् दिव्यगुणयुक्तानीन्द्रियाणि युक्त्वाय युक्त्वा । क्त्वो यगागमः । मनसा संयोज्येत्यर्थः । यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन । इति गीतास्मृतिरपि श्रुत्यर्थमेवानुवदति । यदेन्द्रियाणि विषयभोगेभ्यः परावृत्य स्वर्दिवं प्रति गच्छन्ति तदा तेषां ज्योतिः प्रकाश आनन्दो वा बृहत् भवति । सविषयादानन्दान्निर्विषयानन्दस्य बृहत्तरत्वात् । तदेवाह—बृहत् महत्तरं ज्योतिः प्रकाशं करिष्यतः विधास्यतः देवान् । भविष्यति लृट् । लृटः शता । स एव सविता ब्रह्मचारी तान् देवान् तानीन्द्रियाणिर्निर्विषये ब्रह्मणि प्रसुवाति प्रसुवति प्रेरयति । प्रापयतीत्यर्थः ।

४– युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य
बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।।यजुः ११।४।

विप्रा मेधाविनो जना बृहतः महतः विपश्चितः असाधारणप्रज्ञस्य विप्रस्य निरतिशयमेधासम्पन्नस्य सवितुः आदित्यवद् देदीप्यमानस्य ब्रह्मचारिणः । सम्बन्धे षष्टी । तस्य साक्षात्कारायेत्यर्थः । मनः निजमन्तः करणं युञ्जते संयोजयन्ति । उत धियः बुद्धिरपि युञ्जते संयोजयन्ति । यतस्तु खलु आदित्यः, तद्वज्जाज्वल्यमानो योगी ब्रह्मचारी चोभावपि सवित्रा परमेश्वरेण संयुक्तौ भवतः ततस्तयोः सम्पर्केण साधारणा अन्ये मेधाविनो जना अपि कुतो न स्वमनोधियस्तत्र युञ्जीरन् । परमात्मसंयुक्तेन सह संयुक्तस्यापि तत्संयोगलाभात् । एक इत् एक एव स सविता वयुनावित् वयुनवित् । सांहितिको दीर्घः । वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञानं वा । वयुनं वेत्ति विन्दति वा वयुनावित् । सकलसत्कर्मविज्ञानविज्ञः होत्रा होत्राणि । शेश्छन्दसि बहुलं

लोपः, अग्निहोत्रादिशुभकर्माणि विदधे अनुतिष्ठति। योगक्रियामनुतिष्ठतस्तस्य सवितु ब्रह्मचारिण एवाग्निहोत्रादिकर्माण्यनुष्ठीयमानानि वस्तुतः साफल्यं भजन्ते, नान्येषाम्। योगमन्तरा क्रियमाणानि अग्निहोत्रादिकर्माणि केवलं नाटकमात्रं क्रीडनकान्येव भवन्ति। देवस्य दिव्यगुणोपपन्नस्य सवितुः ब्रह्मद्रष्टुः ब्रह्मचारिणो महती बृहती परिष्टुतिः परितः स्तुतिरभिनन्दनं च जायते। ब्रह्मानन्दयुक्तस्य सूरेः सर्वत्र भूरि २ प्रशंसनं भवतीत्यर्थः।

५— युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥यजुः ११।५॥

सवितृरूपः आदित्यब्रह्मचारी प्राह हे प्राणपानौ! मनोबुद्धी वा अहं वां युवां नमोभिः नमोऽन्नं नमस्कारश्च। अत्यल्पान्नभोजनैः, उभयोः सन्ध्ययोः प्रणामैः प्राणायामैश्च पूर्व्यं पूर्वतनं सनातनं ब्रह्म परमेश्वरं युजे संयोजयामि। अहं स्वीयं प्राणमपानं च, मनो बुद्धिच परब्रह्मणा सह युनज्मि इत्यर्थः। अल्पभोजनेन प्राणापानयोर्वशीकारः संभवति। उक्तं च—विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः इति (गीता २.५९) सन्ध्याकाले प्राणायामस्यानुष्ठानेन चाहंकारनाशाद् इन्द्रियविकारनाशाच्च मनोबुद्धिवशीकरणं न्याय्यमेव। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहादिति मनुस्मरणात्। पथ्या पथ्यानि पथोऽनपेतानि शुभकर्माणि सद्विज्ञानानि इव, सूरेः मेधाविनः ब्रह्मचारिणः श्लोकः कीर्तिः वि एतु व्याप्नोतु। सर्वत्र प्रसरतु। यथा शोभनकर्मविज्ञानानि सर्वत्र यशो लभन्ते तथा आदित्यब्रह्मचारिणो योगिनोऽपि यशः सर्वत्र प्रथते। अमृतस्य अमरणधर्मणः ब्रह्मणः पुत्राः पालनीयाः विश्वे सर्वे जनाः शृण्वन्तु। के ते सर्वे जनाः शृण्वन्तु ? ये दिव्यानि धामानि लोकान् स्थानानि वा आ तस्थुः आस्थितवन्तः। अस्मिन् मन्त्रे योगयुक्तो ब्रह्मचारी स्वयंकृतमनुभवं प्रकाशयति—मनोबुद्धीन्द्रियसंयमाद् ब्रह्मदर्शनं भवति। लोके विपुलं विमलं च यशः प्रसरीसरीति। दिव्यलोकगमनाच्चामरत्वं संपद्यते इति।

६—यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा। यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥

यजुः ११।६॥

यस्य सवितुर्देवस्य योगयुक्तस्य प्राणायामपरायणस्य ब्रह्मचारिणः प्रयाणं प्राणपरित्यागेन परलोकप्रस्थानरूपं प्रगतिशीलं मृत्युञ्जयं महिमानं महत्त्वं अन्ये देवा विद्वांसः ओजसा इत् मनोबुद्धीन्द्रियप्राणनिग्रहबलेनैव अनुययुः अनुगतवन्तः। अन्तरेणमनोनिग्रहं प्राणनिग्रहं च यस्यानुगमनमितरैर्देवैर्दुः शकमित्यर्थः। यः सविता देवः आदित्यब्रह्मचारी योगनिष्ठः पार्थिवानि पृथिवीविकाराणि रजांसि रजोगुणयुक्तानि देहेन्द्रियाणि लोकभूतानि विममे विगतमानानि करोति। असौ देहेन्द्रियादिष्वनास्थितोऽनासक्तो निर्मम इव तिष्ठति। स महित्वना महत्त्वेन एतशः एवं शुक्लादिरूपविकारं श्यति तनूकरोतीति एतशः। आतोऽनुपसर्गेक इति कप्रत्ययः। एतशोऽश्वः। न श्वयतीति अश्वः। वृद्धिह्रासादिविकाररहितः स्वस्थः आत्मा सम्पद्यते अथवा एतं शुक्लं शुभ्रं स्वच्छं स्वरूपं विद्यते यस्य स एतशः। लोमादित्वात् शः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति सत्त्वनिष्ठस्यात्मनः स्वरूपनिरूपणात्॥

७– देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पति-
र्वाचं नः स्वदतु ।। यजुः ११।७।।

हे सवितः देव ! दिव्ययोगशक्तिसंपन्न ब्रह्म-चारिन् ! त्वं भगाय भजनीयाय परमानन्दैश्वर्याय यज्ञं यजनीयं अन्तःकरणं मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपं प्रसुव प्रेरय । यज्ञपतिं अन्तःकरणचतुष्टयाध्यक्ष-मात्मानं च प्रसुव प्रेरय । आत्ममनसोः सम्बन्धेनैव योगसमाधिलाभात् । भवान् दिव्यः दिविभवः सततप्रकाशयुक्तः । दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषइति वचनात् । गन्धर्वः गां वेदवाणीं स्वर्गप्रकाशं वा धरतीति गन्धर्वः । केतपूः केतं प्रज्ञानं पुनातीति । नः अस्माकं केतं बुद्धि विज्ञानं वा पुनातु पावयतु । वाचस्पतिः समस्तसत्यमधुरवचसां पतिः स्वामी च भवान् नः अस्माकं वाचं वाणीं वाजमन्नं च स्वदतु रसयतु । समाम्नायि चाम्नायेऽन्यत्रापि—'घृतात् स्वदीयो मधुनश्च वोचत , इति । योगयुक्तेनापि सता सदा स्वादीयसी मधुरैव वाक् प्रयोक्तव्या, नाहंकृता क्रूरा वेति तात्पर्यम् ।

८– इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यᳪं सखि-विदᳪं सत्राजितं धनजितᳪं स्वर्जितम् । ऋचा
स्तोमᳪं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्र-
वर्तनि स्वाहा ।। यजुः ११।८।।

हे देव सवितः ! दिव्ययोगक्रियायां प्रेरयितः ! ब्रह्मचारिन् ! त्वं नः अस्माकं इमं प्रत्यक्षं यज्ञं यजन-योग्यं मनः प्रणय योगसमाधौ प्रेरय । कीदृशं यज्ञ मित्याकाङ्क्षायामुच्यते—देवाव्यम् । देवानवतीति देवावीः । तम् । देवाः इन्द्रियाणि तेषां रक्षकं प्रियंच । मनसा विनेन्द्रियाणामप्रवृत्तेः । प्रातिस्विकविषय-सहितानीन्द्रियाणि अनुसरदपि मनः स्वयं निर्विषयं तिष्ठतीति महदाश्चर्यं कलयति । चित्तमेवेन्द्रिय-प्रणाल्या बहिर्निर्गत्य विषयेण संयुज्य तत्तदाकारेण परिणमते तथापि चित्तस्य न कश्चिद विषयः स्वकीयो भवति । अत एव पतञ्जलिप्रोक्तयोग-सूत्रे प्रत्याहारलक्षणमित्थम्– स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः इति, सखिविदम् - सखायमात्मानं वेत्ति विदति वा स सखिवित् तम् । देहे आत्मना सह सम्पृक्तत्वात् मनसैवात्मनोज्ञानं भवति नेन्द्रियान्तरेणेति सिद्धान्तात् सत्राजितम् - सत्रा सहैव जयतीति तथाविधम् । मनसो निरोधे सति सकलानामपीन्द्रियाणां सहैव निरोधात् । धनजितम् - गवादिधनानामुपलब्धि-साधनत्वात् तज्जेतारम् । 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत । इति हिन्दीभाषाभाणकं सर्वधनेषु समस्तव्यवहारेषु वा मनोविज्ञानस्य प्राबल्यमुद्घोष-यति । यदि मनसा आत्मानं धनिनं मन्यते तदा धनी एव भवति, दरिद्रत्वाभिमाने दरिद्रः । स्वर्जितम्-स्वः सुखं सन्मार्गं वा जयति प्रापयतीति तादृशम् । मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरिति स्मरणेन बन्धमोक्षापरपर्याये सुखदुःखे चित्तान्वायत्ते एवेति-निर्विवादम् । हे योगिन् ! त्वं चित्तसमाधानाय ऋचा स्तुतिपरैः ऋग्वेदमन्त्रैः स्तोमं भगवत्स्तुति समूहं समर्धय समृद्धिं नय । गायत्रेण गायन्तं त्रायते इति गायत्री । तद्युक्तेन छन्दसा साम्ना वा रथन्तरं साम समर्धय । रथं शरीररूपं तारयतीति रथन्तरः । ब्रह्मचर्यं योगो वा । ब्रह्मचर्येण योग-समाधिना च शरीररूपस्य रथस्य तारणं सुशकमेव । अत्र कः सन्देहः । ब्रह्मचर्येण तपसा मृत्योर्विजय-लाभात् । गायत्रवर्तनि गायत्रं वर्तनिः मार्गो यस्य तादृशं बृहत् साम च समर्धय । बृहदत्र आत्मा विज्ञेयः । तस्य बृहतः आत्मनः समर्धनाय गायत्री-मन्त्रजपो मध्येमार्गमापतति । एतत् सर्वं स्वाहा सुष्ठु शोभनं वाग् आह । स्वस्य आत्मनः योगाग्नौ आहुति र्वा स्वाहा बोध्या। उक्तं चाथर्ववेदेऽपि– स्वाहा एभ्यः । दुराहा अमीभ्यः इति । अथर्व. ८.८ २४) एभ्यः योगिभ्यो देवेभ्यः स्वाहास्तु । अमीभ्यः

योगरहितेभ्योऽसुरेभ्योऽजितेन्द्रियेभ्यो दुराह्वा दुष्ठु वागस्तु इत्यर्थः ।

इत्थमेतेऽष्टौ मन्त्रा योगविषयकाः प्रोक्ताः । सन्ति चैवं जातीयकान्यन्यान्यपि 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः । जघान नवतीर्नव (ऋ. १-८४-१३) इत्यादीनि मन्त्रजातानि येषु योगविषयः साधीयः प्रतिपादितो भवति । पर्यवसाने सामवेदस्यायं मन्त्रो निरीक्ष्यताम्—'इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावप्रधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ । तौ युञ्जीत प्रथमौ योगआगते याभ्यां जितमसुराणां सहोमहत् ॥ इति (सामवेद २.१२१९) इन्द्रस्य जीवात्मनः कौ तौ बाहू यावुक्तलक्षणौ सामवेदे प्रोक्तौ । अहं मन्ये प्राणापानावेवेति । बाहू प्रयत्ने निष्पन्नेन बाधृ विलोडने इति वा व्युत्पन्नेन बाहु शब्देन प्राणापानयोर्यत्नविशेषयोः साम्यात् । प्राणापानयोर्गतिनिरोधे सति असुराणां मलविक्षेपावरणभूतानां चित्तवृत्तीनां महःस्वः बलं जितं भवतीत्यतिरोहितमेतत् । 'तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ (यजुः ३४.५५) इत्याम्नायेपि तावेव देवौ सप्तऋषिषु प्रविष्टौ समाम्नातौ प्रतीतौ भवत इति संक्षिप्तमनवक्षिप्तं च वचः प्रोच्य विरमामि ।

वेदयोगः

श्री स्वामी भगवदाचार्यः

हर्षश्रीकरे विद्वत्करे गुरुकुलपत्रिकाया वेदयोगाङ्कः शशाङ्क इव शोभतेतराम्। अहमामन्त्रितोस्मि तत्र किमपि वेदयोगविषये प्रस्तावयितुम्। परमत्र न हि स्पष्टतया वेत्तुं शक्यते मया, अंकोयं वेदाङ्को वा योगाङ्को वा। अथवा वेदेषु प्रतिपादितो यो योगस्तस्य प्रख्यापकोङ्को वा। ततो वेदप्रतिपाद्यो योगस्तस्यायमङ्क इत्येवार्थमवधार्य प्रयोजयामि मदीयां लेखनीम्। भ्रमस्तु निर्भ्रमैः क्षन्तव्य एव।

वेदेषु सर्वविद्यानां मूलमिति वेदेद्धश्रद्धाभराणां बहूनां वेदाभिमानिनां वेदविषयकेण प्रेम्णा प्रणतो नयः। तेष्वेवाहमपि कोपि। अत एव वेदे योगविद्याया अपि निर्देशो यया कयापि रीत्यास्त्येवेति निदर्शयामि।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति भगवान् पतंजलिः। क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योग इति सर्वदर्शनकाराः। विषयेष्वलं प्रत्ययवत उदासीनस्य वहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदा आत्ममात्रनिष्ठं भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात् कर्म मनसि नोत्पद्यते। स्थिरतरं मनो भवति। स एव योग इति वैशेषिकोपस्कारे। अथवा आत्मस्थे मनसि षडङ्गयोगेनेन्द्रियादिकं परित्यज्य मनो यदा आत्ममात्रे तिष्ठति तदा मनसि कर्मणोनुत्पादः। तदा मनो निश्चलं भवति। तदवस्थायां शरीरावच्छेदेन दुःखं न जायते। स आत्मना बाह्यव्यावृत्तमनसः संयोगो योग उच्यते। एतादृशो योगस्य षडङ्गानि। अथवा इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य इन्द्रियेभ्यो मनः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनः प्रणिधानं योगः। योगं संयोगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोरिति मिश्राः देवतानुसन्धानं योग इति नारदपञ्चरात्रानुयायिनः। चित्तद्वारेण आत्मेश्वरसम्बन्धो योग इति सर्वदर्शने नकुलीशमतम्। चित्तं तु प्रमाणमात्रव्यङ्ग्या विवेकप्रवृत्तिरिति सर्वदर्शनसंग्रहे। सर्वविधयोगानुग्रहे चित्तस्य व्यापकता। चित्ताभावे चित्तवृत्यभावे वा न किमपि कर्तुं मन्तुं सन्धातुमनुसन्धातुं वा केनापि शक्यते। चित्तस्य स्थैर्यं तु नोपेक्षणीयम्। चित्ताभावे चित्तवृत्यभावः। तदभावे सर्वविधज्ञानाभावः। सत्यपि ज्ञानाश्रये ज्ञानगुणेणौ वा विभौ वात्मनि चित्ताभावे सर्वज्ञानाभावः। ज्ञानगुणक आत्मनि करणीभूतं चित्तं तु चयनीयमेव।

एतादृग्योगयोगस्तु वेदेष्वस्त्येव। तथाहि—सीरा युञ्जन्ति कवयः (ऋ. १०।१०१।४) कवयः क्रान्तदर्शिनो विद्वांसः सीरा सीरां बन्धक्षयकर्तारं योगम्। षिञ् बन्धने। रीङ क्षये। युञ्जन्ति प्रयुञ्जन्ति। योगं साधयन्ति कुर्वन्ति वा। योगस्तु त्रिधा। ज्ञानयोगो भक्तियोगः कर्मयोगश्च। योगत्रयं युञ्जन्ति कवयः। चित्तवृत्तिनिरोधस्तु सर्वत्र युज्यते। ज्ञानयोगोपि चित्तवृतिनिरोधस्य प्रयोजनम्। भक्तियोगे कर्मयोगे चापि। भक्तियोगे तु तन्निरोधस्य परमावश्यकता। न स्याच्चेत् चित्तवृत्तिनिरोधः, न चिन्तयितुं शक्नोति कोपि कौपीनवान् योगी वन्धनच्छेतारं शान्तिप्रदातारं परमात्मानम्। न च नित्यसिद्धात्मनोर्जीवपरमात्मनोर्नित्यत्वात् संयोगोऽसिद्धः। आत्मपरमात्मनोरुभयोरेव विभुत्वान्नित्यत्वम् इत्यवधेयम्। न। न हि विभुत्वं नित्यत्वे प्रयोजकम्। विभुन्यपि आकाशे न नित्यत्वं कस्यापि मते। जीवविभुत्वाङ्गीकारे मरणोत्तरकाले जीवात्मनां कृतकर्मानुसारेण तत्तल्लोके तत्तद्योनौ गमनमसिद्धं स्यात्। परं केचन जीवात्मविभुत्वस्वीकारेपि नोक्त दोष इति मन्यन्ते। तेषां मते यथा विभुर्नित्योपि च परमात्मा तत्तदनेकरूपेणावतरति भूमौ मनुष्यरूपेण वा पशुरूपेण वा तथैव विभुरात्मापि तत्तल्लोकगमनं करोतीत्यवधेयम्। न च सर्वशक्तिमतः परमात्मनस्तथावतरणं नासङ्गतं

परमल्पशक्तेर्जीवस्य तथाविधानमनौचित्यमावहति । किंचोभयोरात्मनोर्जीवेश्वरयोर्नित्यत्वमेव स्वीकर्तव्यं न हि जीवात्मनो विभुत्वमपि । एवं चैकस्य विभुत्वादपरस्याणुपरमाणुत्वान्न संयोगे कापि क्षतिः । न भवति निराकारयोः संयोग इति तु न । परमात्मनः सर्वसंयोगित्वाज्जीवसंयोगो न व्याहतः । अथवा तत्र धार्यधारकसम्बन्धो मन्तव्यः । स दाधार पृथिवीमित्यादिरीत्या तादृक सम्बन्धसिद्धिः । किं च निराकारं वस्तु न कस्यापि वस्तुन आधारत्वं भजते इति नापादनीयम् । स दाधार पृथिवीमिति वेदवचनोपरोधभिया निराकारस्यापि परमेश्वरस्याधारत्वं स्वीकरणीयमेवेत्यलमनुपस्थितचिन्तया । उपस्थितं तु विचार्यं योगवस्तु । 'सुप्रकेतं जीवसे मन्म धीमहि' ऋ. १०।३६।५ इत्यनेन जीवसे जीवनाय मननं यत् ज्ञानम् । तेन यस्य मानं भवति तस्य ब्रह्मणो ध्यानं धीमहीत्यनेन विहितम् । नीरूपपदार्थस्य कुत्राप्यवस्थितिर्न विरोधाधायिका । निराकारे साकारपदार्थस्यावस्थितिर्न दुस्तर्क्या । निराकारेपि परमेश्वरे साकारं जगदवतिष्ठत एवेति सर्वानुभवः । न हि परमेश्वरे किञ्चिदवतिष्ठते तस्याधारत्वासिद्धेरिति तु न । तदाधारत्वानङ्गीकारे वेदवचनविरोधः स्यात् । तथाहि, स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमामिति ।

किं च निराकारयोः संयोगो नाङ्गीक्रियते चेत् कथं निराकारशब्दाकाशयोराधाराधेयभावसिद्धिः स्यात् । न च तत्र नास्ति आधाराधेयभाव इति वाच्यम् । शब्दस्य गुणत्वात्, तस्याधारभूतं किञ्चिद् द्रव्यं तु कल्पनीयमेव । अगत्याकाशस्यैव तदाधारत्वं स्वीकर्तव्यम् । निराकारेपि नभसि अगत्या यथा शब्दाश्रयत्वं कल्पते तथैव परमात्मनो नीरूपत्वेपि जगदाधारत्वं न विरुध्यते । एवं च संयोगः कल्पनीय एव । अलमप्रासङ्गिकवस्तुप्रसञ्जनेनेति ।

प्रकृतंतु चिन्तयामि । यमनियमादयोपि धारणा ध्यानसमाध्यादयोपि योगाङ्गत्वं भजन्ते । एतानन्तरेण योगासिद्धिः । अतः प्रदर्शयामि एतेषामस्तित्वमर्थादुपदेशो वेदेष्वस्त्येवेति । 'नसोर्यम' इति ऋग्वेदमन्त्रांशे यमः श्रूयते । अनेन प्रयोगेण प्राणायाम उपदिष्टः । 'यमोददात्यवसानमस्मै' यमस्य फलं श्रावयन् भगवान् वेदः कथयति-यमोस्मै उपासकाय योगिने वा अवसानमवकाशं ददाति सर्वत्र प्रतिष्ठास्थानं प्रयच्छति । यमानां ये रक्षकाः परिचारका वा तेषां सर्वत्र प्रतिष्ठा संजायते ।

'दशानामेकं कपिलं समानः' ऋ. १०।२७।१६ इत्यत्र दशानामिन्द्रियाणामेकस्थत्वं सूचयति । समानत्वम् एकस्थत्वम् अनेन 'द्यौश्च त्वा पृथिवी यज्ञियास । निहोतारम् सादयन्ते दमाय' ऋ. ३।६।३। अस्यामृचि दमावाप्तये प्रयत्नः सूचितः । दमोपीन्द्रियसंयमोपि योगाङ्गमेव ।

'आयेमिरे रथ्यो अग्ने अश्वाः' ऋ. ३।६।८' अत्राश्वानामिन्द्रियाणां विषयेषु शीघ्रगतिकानां यमो विहितः ।

'पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ।।
ऋ. ३।६।३।।

येषां यस्य सख्ये समानभावे समानभावाप्तये श्रितः संलग्नोसि तेषां तस्य परमेश्वरस्य अन्ये योगिनः परि-आसते परितः आसते । अनेन उपासनम् आसनं चोपदिष्टम् ।

गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत् ।। ऋ. १०।२८।१०।। गोधा गवामिन्द्रियाणां धा धाता संयमी एतत् अयथम् अनुपमम् ब्रह्म कर्षत् आकृष्टं करोति । एतेनापि योगाङ्गं दुरूहेण पथा निरुक्तं भवति ।

'निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान्' एतेन जगद्बुभुक्षोर्निरोधः शिक्षितो भवति । निरोधो मनोनिग्रहः ।

यां मेधां देवगणा इति मन्त्रेण या मेधा प्रदर्शिता सा एव योगे ऋतम्भराशब्देनाख्याता ।

वेदेषु पुरुषसूक्तादिना जीवात्मनः प्रदर्शितं नित्यत्वं योगदर्शनेपि स्वीकृतम् यथा 'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।। कैवल्यपाद, सूत्र १८"

एवं प्रायेण सर्वं एव योगविषया वेदेष्वपि यत्र तत्र निक्षिप्ताः सन्ति । ग्रन्थस्यायं विषयः, न केवलं मासिक पत्रस्येति । ★

वेदे योगविद्या

श्री जगन्नाथो वेदालंकारः अरविन्दाश्रमः पाण्डिचेरी

निखिलविद्यानिधानं वेदभगवान् इति न कस्य विदितं विदितवेदितव्यस्य ! 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' 'सर्वज्ञानमयो हि सः', 'चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ।।' १इति वेदतत्त्वविदो मनुमहाराजस्य वचनानि वेदस्य सर्वविधविद्याबीजत्वमुपपादयन्ति । मानवनिःश्रेयस-साधकस्य योगस्य तु सकलतत्त्वानि वेदमन्त्रेषु सुस्पष्टं संकेतितानि । तेषु कानिचिद् वयमत्र वेदमन्त्राधारेण विवरीष्यामः ।

युजिर् योगे इति रौधादिकाद्, युज समाधौ (समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोधः) इतिदैवादिकाच्च धातोर्भावे करणे वा घञि निष्पाद्यमानो 'योग' इति शब्दः परमात्मना सह आत्मनो योजनं संयोगं, सायुज्यम् ऐकात्म्यं वा, तस्य ऐकात्म्यस्य साधनं वा आह ।२ सोऽयं योगशब्दः 'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ।।' ऋ. १. १८. ७

इत्यस्मिन् मन्त्रे प्रयुक्तः साध्यसाधनोभयवाचकतया व्याख्यातुं शक्यः । तथा हि—**यस्माद्** देवाद् **ऋते** विना **विपश्चितश्चन** प्रकाशपूर्णस्य ज्ञानिनोऽपि **यज्ञः** न सिध्यति न सफलीभवति स देवः **धीनां** तेषां विपश्चितां ज्ञानिनां बुद्धीनां कर्मणाञ्च **योगम्** एकाग्रध्यानम्, तस्मिन्नेव देवे अनन्यैकाग्रताम् **इन्वति** अर्हति, यद्वा **धीनां** तेषां बुद्धीनां कर्मणाञ्च योगं स्वात्मना सह सायुज्यम् **इन्वति** व्याप्नोति तेषां बुद्धिः तेन देवेन सह तदाकारताम् एकात्मतां वा याति, तेषां कर्मस्वपि स ओतप्रोतो भवति, तद्गतचेतसामेव तेषां सर्वाः क्रियाः प्रवर्तन्ते इति भावः ।

अस्मिन् मन्त्रे योगशब्दस्य अयमेवार्थ इति स्वयं वेदस्यैव अन्तःसाक्ष्येण साधयितुं शक्यम् । यजुर्वेदस्य एकादशाध्यायस्य प्रथमपञ्चमन्त्रा वेदानामुपांगभूतस्य योगदर्शनस्यैव मूलतत्त्वं सुविशदं प्रतिपादयन्ति । ते च पातञ्जलयोगदर्शनस्य मूलोद्गम इत्यपि सुवचम् । त इमे अत्र उपन्यस्यन्ते—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या ऽअध्याभरत् ।।१
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ।।२।।
युक्त्वाय सविता देवान् त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।३
युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य
बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य
सवितुः परिष्टुतिः ।।४।।
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु
पथ्येव सूरेः । शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये
धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।५।।

निगदव्याख्याता इवैते मन्त्राः । एषु चतुर्थो मन्त्र ऋग्वेदेऽपि (५. ८१) दृश्यते । तस्यव्याख्यां कुर्वन्तः श्रीअरविन्द पादा आहुः—"**विप्राः** प्रकाशसम्पन्ना मनुष्याः **विप्रस्य** प्रकाशमयस्य **बृहतः** विशालस्य **विपश्चितः** विशददृष्टिसम्पन्नस्य च सवितुर्विषये, तं प्रति इत्यर्थः **मनः युञ्जते** स्व मनः योजयन्ति **उत** अपि च **धियः** युञ्जते स्वविचारान् योजयन्ति ।"१

---

१. मनुस्मृतिः, अ. २. ६; २. ७; १२, ९७ ।२

२. योजनमेव योगः सायुज्यं समाधिर्वा (भावेघञ्) । युज्यतेऽनेन करणेन आत्मा परमात्मना सह इति योगः सायुज्यस्य समाधेर्वा साधनम् (करणे घञ्) । योगस्समाधिः इति योगभाष्यकारो महर्षिर्व्यासः ।।

१. वेदरहस्यम् पृ. ४३ ।

अस्य मन्त्रस्य देवता सविता । स हि सौर-ज्योतिषः सत्यज्योतिषश्च अधिपतिः । "यावत् मनुष्या अस्य सौरज्योतिषः कामपि कलाम् आत्मनि ग्रहीतुम् आरभन्ते तावत् ते स्वां सम्पूर्णां मनोमय सत्तां तस्या विचारसामग्रीञ्च स्वान्तःस्थितदिव्य-सूर्यस्य चिन्मयसत्तया सह योक्तुं प्रयतन्ते । अर्थात्, ते समस्तामपि स्वां तिमिराच्छन्नां मानसिकावस्थां, सर्वानपि स्वान् भ्रान्तविचारांश्च स्वात्मनि अभि-व्यक्तेन अनेन प्रकाशेन सह योजयन्तीव (**युञ्जते**), येन अयं प्रकाशः मनसो धूमलत्वं निर्मलत्वे, विचार-गतप्रमादांश्च तेषु सत्येषु परिणमयेद्यानि ते विकृत-तया निरूपयन्ति । एतद् योजनमेव तेषां योगो भवति (**युञ्जते**) ।" १

एवमेव,

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना ।
विध्यता विद्युता रथः ॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥

ऋ. १.८६.९-१० ।

अनयोर्मन्त्रयो व्याख्यानं विदधतो योगिराजाः श्री अरविन्दा आचक्षते —रहूगणपुत्रस्य ऋषेर्गोतमस्य मरुत्सूक्तगतमन्त्रद्वयेऽस्मिन् गोतमो मरुद्गणमावाह्य ज्योतिर्भिक्षामर्थयते—"सत्यबलेन बलिनो यूयं, हे मरुतः युष्माकं महिम्ना तत् परमतत्त्वं प्रकाशतां नः । विद्युत्समेन स्वीयालोकेन विध्यत राक्षसम् । हृद्गुहायां निहितं (**गुह्यम्**) अन्धकारं निगूहत, अन्धकारोऽसौ सत्यस्य ज्योतिष्पूरे निमग्नः सन्नदृश्यतां यातु । पुरुषार्थस्य सकलभक्षकान् समुत्सार्य अस्मदभीप्सितं ज्योतिराविष्कुरुत ।—**अत्र मरुद्गणो न हि मेघहन्ता वायुः अपि तु पञ्च प्राणाः** । तमो नाम हृद्गतो भावरूपोऽन्धकारः, पुरुषार्थभक्षकास्तावत् षड् रिपवः ज्योतिश्च परमतत्त्वसाक्षात्कारस्वरूप-ज्ञानस्यालोकः । अस्य ऋग्द्वयस्य अनया व्याख्यया-अध्यात्म तत्वं, वेदान्तस्य मूलप्रतिपाद्यं, राजयोगस्य प्राणायामप्रणाली चेत्येतत् सर्वमपि सम्प्राप्तं वेदे ।"१

प्राण सम्पूर्णनियन्त्रे अस्मिन् मरुत्स्तोत्रे 'मरुत्' पद-द्योतित पञ्चप्राणेषु सम्पूर्णप्रभुत्वप्राप्त्या, प्राणा-यामसाधनसम्पदा योगाभ्यासिनो ये शक्तेरारोह णावरोहणानुभवा भवन्ति ते अथर्ववेदे प्रतीकात्मक भाषया एवं संकेतिताः—

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्
दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

अथ० ४.१४.३ ।

अत्र पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः क्रमशः अन्न-प्राण-मनोभूमिकानां प्रतीकानि, स्वश्च मनोऽतीता-ऽवाङ्मनसगोचर 'विज्ञान' भूमिकायाः । पातञ्जल-योगदर्शनानुसारमिमा भूमिकाः विक्षिप्तसम्प्रज्ञाता-ऽसम्प्रज्ञात-कैवल्यभूमिका बोध्याः । "यत्सानोः सानु-मारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् । तदिन्द्रोअर्थं चेतति यूथेन वृष्णि रेजति ।"(ऋ. १.१०.२)इति मन्त्रे-ऽपि योगाभ्यासिनः चेतनायाः शिखरात् शिखरं प्रत्यारोहणम्, प्रत्येकशिखराच्च प्राप्तव्योच्चतरशि-खरस्य स्पष्टसन्दर्शनं निरूपितम् ।

चेतनाया उत्तरोत्तरारोहणक्रमे प्राप्या अनु-भूतयः वेदे बहुत्र वर्णिताः । अथर्ववेदस्य "अष्ट-चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।"(अथ. १०.२.३१) इत्यस्मिन् मन्त्रे अष्टचक्राणां हिरण्मयविज्ञानकोषस्य च ऋषिकृतः साक्षात्कार एव संकीर्तितः ।

वैदिकयोगसाधनाया ध्येयम् आत्मपरमात्मैक्यं साधनाभ्यासिनः परमास्पृहारूपेण निम्नाङ्कितमन्त्रे निर्दिष्टम्—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।

---

१. वेदरहस्यम् पृ. ४८-४९ ।

१. श्रीअरविन्देर मूल बांगलारचनावली, पृ. २४ ।

स्पृष्टे सत्या इहाशिषः ।। ऋ. ८.४४.२३।

दर्शितान्यस्माभिः संक्षेपतो योगस्य मूलतत्त्वानि वेदमन्त्राधारतः। प्राचीना अर्वाचीना वा सर्वेऽपि योगमार्गा वेदमूलका इत्यत्र कः सन्देहः? परन्तु किमनेन नीरसेन बौद्धिकविवेचनेन यावद्, वयं वेदवर्णितैः सरल-सरसैः योगसाधनासोपानैर्योगध्येयभूतात्मपरमात्मसाक्षात्कारप्राप्तिक्रमं न प्रदर्शयेम? स एवाधुना प्रदर्श्यते।

आदौ योगसाधकः 'मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु' (ऋ. १.१४७.४) इति मन्त्रानुसारं वेदमन्त्रं वा तत्प्रदातारं कमपि ब्रह्मनिष्ठं सिद्धयोगिनं वा गुरुं कृत्वा 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इत्यादिपूर्वोपन्यस्तवेदमन्त्रप्रदर्शितदिशा योगमार्गमूर्धन्यभूतध्यानयोगम् १ अभ्यस्येत्स्वीयं मनः, बुद्धिं कार्यकलापञ्च अनन्यतया परमेश्वरेण सह योजयितुं धारणाध्यानविधिमनुसरेत्। अथ स 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजु. ३६.१८) इतिमन्त्रनिर्दिष्टदिशा शिवसंकल्पपूर्वकं भूतमात्रं प्रति मैत्रीभावनामभ्यस्येत्। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (यजु. १.४०.१) 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।।' (यजु. १.४०.६) इत्यादिमन्त्रानुसारं सर्वभूतेषु समदृष्टिम् ऐकात्म्यदृष्टिं चानुशीलयेत्। तथा हि 'अस्ति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एव आत्मेति। यथा यद्यत् स्फुरति तत्तत् स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिञ्चेति।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः, २-३८)। ततश्च स्वहृदयस्य सर्वानपि भावान्, सर्वांश्च सांसारिकसम्बन्धान् अन्यांश्चापि अलौकिककल्पनीयसंबन्धान् भगवति एव नियोजयेत्। तथा चाह भगवान् वेदः—

१. शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे। नहि त्वदन्यन्मघवन्न **आप्यं** वस्यो अस्ति **पिता** चन ।। ऋ. ७.३२.१९।

२. त्वं हि नः **पिता** वसो त्वं **माता** शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ।। ऋ. ८.९८.११
सामवेद ११७०

३. त्वं **त्राता** तरणे चेत्यो भूः **पिता माता** सदमिन्मानुषाणाम् ।। ऋ. ६.१.५।

४. अच्छा **म इन्द्रं मतयः** स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ।। ऋ. १०.४३.१।

५. पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः।
सखित्वमा वृणीमहे ।। ऋ. ९.६१.४।

६. उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि ।। ऋ. १०.१८६.२.।

इत्यादिभिः परश्शतमन्त्रैर्वेदा अस्मानुपदिशन्ति यत् पितृ-मातृ-पुत्र-मित्र-कलत्र-बन्धुबान्धवसम्बन्धाः सर्वेषाम् आदि जनके सत्येऽनन्ये च बन्धौ भगवति एव नियोज्या नान्यस्मिन्। सांसारिकासक्तीर्निरसितुं नास्ति अन्या कापि सरला सरसा च सृतिरिति सर्वथाऽवदातोऽयं वैदिकसिद्धान्तः।

न च केवलं सर्वे सम्बन्धाः अपि तु सर्वे अपि कामाः, सकलाः कामनाः, तज्जन्याः क्रोधलोभमोहादयो भावाश्च देवान् प्रति देवाधिदेवं प्रति च परावर्त्याः, तस्मिन्नेव निवेश्याः। तथा चोक्तं वेदे—

ऋतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्यादिशः। न मर्डिता विद्यते अन्य
एभ्यो **देवेषु मे अधिकामा अयंसत** ।।
ऋ. १०.६४.२।

सकलहृद्भावानां निखिलकामनानाञ्च भगवति नियोजनेन तेन सह सारूप्यं सुलभमिति किमत्र वक्तव्यम्। तथा चोक्तं भागवते —

------

१. अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।
—योगमार्तण्डः

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ।।
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन् ।।
१०.२९.१५; ११.९.२२-२३ ।

विस्तरभयेन एषां श्लोकानां व्याख्या अत्र न दीयते ।

उपर्युक्तप्रणाल्या योगसाधनां कुर्वन् साधकः भगवतः सालोक्य-सामीप्यादिस्वरूपं यत् फलं प्राप्नोति तत्कीर्तनकरं मन्त्रद्वयमुद्धृत्य निबन्धोऽयमुपसंह्रियते ।

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क **इन्द्रस्य युज्यं** कः **सखित्वं** को भ्रात्रं वष्टि-कवये क ऊती ।। ऋ.४.२५.२ ।

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।। ऋ.८.४८.३

कोऽस्ति यः सकलैश्वर्यशालिप्रभोः सायुज्य-सख्यभावभ्रातृभावान् प्राप्तुमाकांक्षति ? कस्य हृदये तस्मै कवये भक्ति-कान्ति-प्रीतितरंगा उच्छलन्ति ? यस्मिन् एतत् सर्वमस्ति स एव सत्यः साधकः, स एव च पिबति सोमम्, भवति अमृतः, प्राप्नोति ज्योतिः, विन्दति देवान्, भवति च परमात्मस्वरूपः इति दिक् ।

सम्प्रसादाच्च देवानां श्रवणादीक्षणादपि ।
मन्त्राह्वयं स्वयं ब्रह्म साक्षाच्चक्रुर्महर्षयः ।।

श्रुत्या च दृष्टिसम्पत्त्या दिव्यया वाऽथ सूक्ष्मया ।
सिद्धया देवताभक्त्या मन्त्रान् प्रापुस्तपोधनाः ।।

तस्मादेतानि सूक्तानि गीयन्ते मन्त्रदृष्टयः ।
अन्तर्दर्शनसम्पन्ना ऋषयः कवयः श्रुताः ।।

—टी. वी. कपालिशास्त्री ।

योगदर्शन का स्वाध्याय

श्री भवानीलाल भारतीय एम०ए० पी-एच-डी० हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट कालेज, अजमेर

योगदर्शन भारतीय अध्यात्म साधना का व्यावहारिक पक्ष हमारे समक्ष उपस्थित करता है। पतञ्जलि कृत यह दर्शन षड्दर्शनों में सबसे छोटा है। महर्षि पतञ्जलि के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना कर वाणी की शुद्धि, आयुर्वेद पर एक ग्रन्थ लिख कर शरीर की शुद्धि तथा योग शास्त्र का प्रणयन कर चित्त शुद्धि की व्यवस्था की। परन्तु अभी तक विद्वान् इस बात से सहमत नहीं हैं कि उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों के रचयिता एक ही व्यक्ति थे।

दर्शनकारों की प्रिय सूत्रशैली में लिखे गये इस दर्शन में समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद शीर्षक चार प्रकरण हैं। जिनमें क्रमश: ५१, ५५, ५४ तथा ३४ कुछ मिला कर १४४ सूत्र हैं। इस दर्शन पर व्यास नामक ऋषि का भाष्य मिलता है। ये व्यास निश्चय ही वेदान्त सूत्रों के प्रणेता वादरायण व्यास तथा महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास से भिन्न होंगे। पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ 'महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत' में ऐतिहासिक-प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पतञ्जलि ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र शुंग के सभा पण्डित थे। पुष्यमित्र निर्बल और निर्वीर्य अन्तिम मौर्य सम्राट् बौद्ध मतानुयायी बृहद्रथ का सेनापति था जिसे उसने समाप्त कर वैदिक धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की। सम्राट् पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया और लुप्त प्राय ब्राह्मण संस्कृति का जयघोष किया। यदि पतञ्जलि उसी काल के हों तो उनके सूत्रों पर भाष्य लिखने वाले व्यास महाभारतकालीन व्यास पाराशर्य से अवश्य ही भिन्न होंगे।

व्यास के पश्चात् धारा नगरी के प्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा भोजदेव ने योगभाष्य पर अपनी वृत्ति लिखी और मिथिला के प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र और सांख्य-दर्शन के अद्वितीय पुरस्कर्ता आचार्य विज्ञान भिक्षु ने भी इस दर्शन पर अपनी टीकायें लिखी हैं।

सांख्य ने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है योग ने उन्हें यथावत् स्वीकार कर लिया है। अत: सांख्य और योग को एक ही दर्शन के दो रूप समझना चाहिये। जो लोग सांख्य को निरीश्वरवादी दर्शन मानते हैं वे योग में ईश्वर की स्वीकृति के कारण उसे सेश्वर सांख्य कहते हैं। प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विवेचन करना और यह बताना कि प्रकृति किस प्रकार सृष्टि रचना में सन्नद्ध होती है, सांख्य का उद्देश्य है परन्तु योग, जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है एक व्यावहारिक साधना पद्धति है जिसमें समाधि द्वारा मोक्षप्राप्ति और परमात्म साक्षात्कार के सुगम उपायों का विवेचन हुआ। सांख्य के दार्शनिक विचारों को अस्वीकार करने वाले शंकर आदि नवीन आचार्यों ने भी आत्मसाधना के लिए योग प्रतिपादित एवं उपदिष्ट मार्ग को ही स्वीकार किया है। अत: व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस दर्शन की महत्ता निर्विवाद है।

इस संक्षिप्त परिचय के साथ हमें किञ्चित विस्तार के साथ योग सूत्रों का अध्ययन कर उनके प्रतिपाद्य विषयों की मीमांसा करनी चाहिये। अन्य दर्शनों की ही भांति योगदर्शन का प्रारम्भ भी 'अथ' से होता है—

अथ योगानुशासनम् ।

अर्थात् अब योग का अनुशासन किया जाता है। द्वितीय सूत्र में योग की एक कामचलाऊ परिभाषा दी गई है––

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है। इस निरोध के पश्चात् जीवात्मा की स्थिति का वर्णन करते हुए तृतीय सूत्र में

तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्

ऐसा कहा गया है कि योगावस्था में आत्मा स्वरूप में अवस्थित होता है। सूत्र के अर्थों को लेकर भाष्यकारों में बड़ा मतभेद है। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी विद्वानों ने इसका अर्थ करते हुए योगावस्था में जीवात्मा की परमात्मा में अवस्थिति मानी है जब कि अन्य टीकाकारों ने 'स्वरूपे' पर अवस्थित जोर देकर जीवात्मा की अपने ही स्वरूप में अवस्थिति स्वीकार की है। हमें प्रथम अर्थ ही अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' इस मन्त्र में परमात्मा को द्रष्टा रूपमें ही वर्णित किया गया है। आत्मा तो द्रष्टा की अपेक्षा कर्ता और भोक्ता ही अधिक है।

योग में जिन वृत्तियों के निरोध की बात कही गई है उनकी संख्या और वर्गीकरण अगले सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है––

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।

अर्थात् वृत्तियें पांच हैं जो क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं। आगामी सूत्रों में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांच वृत्तियों की परिभाषा और व्याख्या की गई है। सांख्य की ही भांति योग में भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के रूप में तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। विपर्यय उस मिथ्या ज्ञान को कहते हैं जो वस्तु के यथार्थ रूप में स्थित न होने के कारण उत्पन्न होता है। वस्तु शून्य परन्तु शब्द ज्ञान युक्त संज्ञा को विकल्प कहते हैं, जैसे वंध्या पुत्र, आकाश कुसुम आदि शब्द तो हैं परन्तु उनसे बोधित होने वाले पदार्थों का अत्यन्ताभाव है। जागृत और स्वप्न अवस्था के अभाव में जिस तमोगुण युक्त वृत्ति का उदय होता है उसे निद्रा कहते हैं। पूर्व अनुभूत विषय को पुनः स्मरण करना स्मृति कहलाती है।

इस प्रकार वृत्तियों की व्याख्या करने के पश्चात् सूत्रकार उनके निरोध का उपाय बताते हैं। यह निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा सम्भव है––

'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।'

कृष्ण ने भी गीता में मन के निरोध के यही उपाय बताये हैं।

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'

इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि मन के वशीकार का जो उपाय कृष्ण ने बताया कई शताब्दियों के पश्चात् वही पतंजलि ने भी बताया। वस्तुतः वैदिक धर्म के पुरस्कर्ता आचार्यों ने जो बातें समय-समय पर कही उनमें सर्वत्र साम्य ही है।

आगामी दो सूत्रों में अभ्यास और वैराग्य के पश्चात् संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि का निर्णय किया गया है। जब तक ज्ञाता और ज्ञेय के पृथकत्व का भान रहता है तब तक संप्रज्ञात समाधि रहती है और जब ज्ञाता अपने अस्तित्व के प्रति अबोध होकर ज्ञेय में विलीन हो जाता है, उस दशा को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

बीसवे सूत्र में कहा गया है कि श्रद्धा, वीर्य, समृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा इस अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। अथवा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा भी। इस सूत्र से यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि योग दर्शन में ईश्वर भक्ति को समाधि के एक वैकल्पिक साधन के रूप में ही स्वीकार किया गया है, वस्तुतः उसका अपने में कोई महत्त्व नहीं है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि सूत्रकार का आशय ईश्वर प्रणिधान के महत्त्व को न्यून करना नहीं है। वस्तुतः यह भ्रान्ति उन पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा फैलाई गई है जो समाधि को मन की शून्यावस्था मान कर उसके निषेधात्मक रूप पर अधिक जोर देते हैं। परन्तु आर्ष पद्धति के व्याख्याकारों के अनुसार समाधि अवस्था में जीव को ईश्वर का दर्शन होता है। सांख्यकार ने लिखा है——

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।

अर्थात् समाधि सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म रूप हो जाता है। अतः इस कथन में कुछ भी तथ्य नहीं है कि समाधि अवस्था शून्य रूपा (निषेधात्मक) होती है अथवा ईश्वर-प्रणिधान का इस शास्त्र में स्वल्प महत्त्व है।

यहां ईश्वर का प्रकरण आया तो २४वें सूत्र में ईश्वर का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया——

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

अर्थात् क्लेशः कर्म उसके फल और तज्जन्य वासना से पृथक् पुरुष विशेष ईश्वर है। 'पुरुष विशेष' कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर भी अन्य सामान्य आत्माओं में से ही एक विशिष्ट गुण युक्त आत्मा है। वह पुरुष इसी अर्थ में है कि ब्रह्माण्ड रूपी पुरी में शयन करने से उसकी पुरुष संज्ञा है। २५वें सूत्र में उस ईश्वर में अतिशय सर्वज्ञता बताई गई है और २६ वें सूत्र में कहा गया है—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्,

वह परमात्मा पूर्वकालीन ऋषियों का भी गुरु है क्योंकि वह काल का भी अतिक्रमण करने वाला है। पूर्व काल में जितने ऋषि हुए या आगे भी होंगे वे सभी मरणधर्मा होने से काल में काल के बन्धन में बंधे हैं परन्तु ईश्वर तो काल का भी काल है, अतः वह काल के बन्धन में नहीं आता। इसी कारण से वह पूर्वज ऋषियों का भी गुरु कहलाता है।

२७वें सूत्र में ओंकार या प्रणव को इस ईश्वर का वाचक शब्द बताया है और २८वें सूत्र में इस ओम् पदवाच्य परमात्मा का अर्थ भावनापूर्वक जप करने का आदेश दिया गया है। अगले ३० और ३१वें सूत्र में योग मार्ग में आने वाले विघ्नों का वर्णन है और ३३वें सूत्र में चित्तशुद्धि के लिए मैत्री करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक चार भावनाओं का वर्णन किया गया है। बौद्ध मत में भी ये चारों भावनायें यथावत् स्वीकार की गई हैं। सुखी लोगों के प्रति मैत्री, दुखियों के प्रति करुणा, धार्मिक पुरुषों से प्रसन्न रहना और अधर्मियों के प्रति उपेक्षा का व्यवहार रखने से चित्त स्थिर होता है।

चित्त की स्थिरता के लिए ३४वें सूत्र में प्राणायाम का भी उल्लेख है और अन्यान्य उपायों का वर्णन करने के पश्चात् ३९वें सूत्र में कहा गया है——

यथाभिमतध्यानाद्वा।

अर्थात् शास्त्रोक्त चित्त स्थिति के किसी भी साधन द्वारा अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। इस सिद्धि के साधक परमाणु से महत् पर्यन्त वस्तुओं को

वश में कर सकते हैं। आगामी सूत्रों में सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार समाधि का वर्णन करने के पश्चात् योगी की ऋतम्भरा प्रज्ञा का उल्लेख ४८वें सूत्र में किया गया है––

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा:

इस प्रकार सबीज समाधि की व्याख्या के पश्चात् इस पाद के अन्तिम सूत्र में सर्व संस्कार निरोध सूचक निर्बीज समाधि के वर्णन के साथ-साथ समाधिपाद समाप्त होता है।

योगदर्शन के साधनपाद का प्रारम्भ क्रिया योग के वर्णन से होता है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग बताया गया है। इस क्रियायोग का फल बताते हुए सूत्रकार लिखते हैं––

समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च ।

अर्थात् क्रियायोग की साधना से समाधि की सिद्धि होती है और क्लेश नष्ट होते हैं। आगामी सूत्रों में हेय, हेम हेतु, हान और हानोपाय का निरूपण किया गया है। बौद्ध दर्शन में भी ये ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। अनागत दुःख हेय, द्रष्टा और दृश्य का संयोगहेयहेतु, अविद्या की निवृत्ति के पश्चात् द्रष्टा और दृश्य के संयोग की निवृत्ति हान तथा विवेकज्ञान को हानोपाय कहा गया है। अब सूत्रकार ने विस्तार पूर्वक विवेक ज्ञान के कारण भूत योगाङ्गों का वर्णन किया है। २१वें सूत्र में कहा गया है कि योगागों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय और ज्ञान का उदय होकर विवेक-ख्याति होती है। यम, नियमादि आठ योग के अंग हैं। यम नियमों के साधन से साधक को क्या फल मिलता है, इसका उल्लेख भी साथ ही साथ कर दिया गया है। योग के तीसरे अंग आसन की परिभाषा इस प्रकार दी गई है––

स्थिरसुखमासनम् ।

अर्थात् शरीर को स्थिर और सुखदायी स्थिति ही आसन है। रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से त्रिविध प्राणायामों का भी वर्णन हुआ है। प्राणायाम से बुद्धि के आवरणरूप क्लेशों का क्षय हो जाता है और चित्त की स्थिति धारणा के योग्य बनती है। इन्द्रियों को विषयों से दूर हटाने को प्रत्याहार कहते हैं। योग के प्रथम पांच अंग–यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के विवरण के साथ साधनपाद समाप्त होता है।

साधनपाद में उल्लिखित पांच अंग योगके बहिरंग साधन कहे गये हैं। धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अन्तरंग साधन कहा गया है। देश विशेष में चित्त को स्थिर कर लेना साधना कहलाती है––

देशबंधः चित्तस्य धारणा ।

धारणा के अनन्तर ध्येय पदार्थ में होने वाली चित्त की एकतान को ध्यान कहते हैं। ध्यान में भी जब केवल ध्येय रूप की ही प्रतीति होने लगती है, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं। योग के तीनों अन्तरंग साधनों को योग की परिभाषा में संयम कहते हैं ––

त्रयमेकत्र संयमः ।

संयम की सिद्धि से योगी को प्रज्ञालोक की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार समाधि पर्यन्त योग के आठ अंगों का वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार ने भिन्न २ वस्तुओं में संयम करने से प्राप्त होने वाली विभूतियों का वर्णन किया है। ये विभूतियां योग साधना के मार्ग में आने वाले लुभावने आकर्षण हैं अतः ऋषि

ने यह चेतावनी दी है कि इनके लालच में पड़कर योग मार्ग से भ्रष्ट होना उचित नहीं।

योग का प्रमुख ध्येय है विवेक ज्ञान की प्राप्ति। यह विवेक ज्ञान उदय होते ही योगी को कैवल्य की प्राप्ति होती है और कैवल्य लाभ करना ही योगी का लक्ष्य होता है। सूत्रकार ने जिन विभूतियों से आकृष्ट न होने की चेतावनी दी है साधारणत: मनुष्य उनसे ही प्रभावित होता है। यूरोप अमेरिका तथा पश्चिम में आज योग के नाम पर जो चमत्कार तथा अन्य विचित्र प्रवृत्तियों का उदय दिखाई पड़ता है उसका मूल कारण यही है कि योग को मात्र शारीरिक व्यायामों का पर्याय मान लिया गया अथवा उसे कतिपय विचित्र और अलौकिक शक्तियों का स्रोत कल्पित कर लिया गया है। फलत: त्राटक, हिप्नोटिज्म आदि के प्रयोगों को भी योग की संज्ञा दे दी जाती है। वस्तुत: यह योग का विद्रूप है जिसे नवीन पाखण्ड प्रवर्तक सम्प्रदाय प्रवर्तकों ने और भी हास्यास्पद बना दिया है। ब्रह्मकुमारी मत वालों का योग, आचार्य नामधारी रजनीश का योग, बालयोगेश्वर का योग, आनन्द-मार्ग का योग ये सभी योगसाधना का उपहास है जिसे कतिपय स्वार्थी लोगों ने प्रचारित कर रखा है। आर्ष योग पद्धति वही है जिसका प्रवर्तन महर्षि पतञ्जलि ने किया था और जो मानव मात्र के लिए आचरणीय होने के कारण राजयोग पद से अभिहित किया जाता है।

अधीनं देवतास्वेव जगदन्तर्बहिस्तथा।
इदं रहस्यं विदितं पूर्वेषां मन्त्रदर्शिनाम्॥
तस्मात् प्राणेन मनसा गात्रेणापि महर्षय:
सर्वात्मना च यजनं देवेभ्यो निरवर्तयन्॥
अन्तर्यागसमर्थानां विरलानां महात्मनाम्।
गोप्यान्यप्रभवो वेत्तुं पामरास्तु सहस्रश:॥
देवान् बाह्येन यागेनाराधयन् मन्त्रपूर्वकम्।
मन्त्रस्तु भाषाविच्छित्या द्विधाऽप्यभवदर्पकम्॥

टी० वी० कपालि शास्त्री

योग और वैदिक जीवन-पद्धति

श्री बद्रीप्रसाद पंचोली

वेद जीवन विज्ञान का नाम है। आज ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन आदि का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए हम जिस तरह इनमें से प्रत्येक को स्वतन्त्र और इतर से भिन्न मानते हैं, ऐसा वेद में नहीं है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन एक इकाई है। उसमें इस तरह का विभाजन किया भी नहीं जा सकता। व्यक्ति को अंग्रेजी भाषा में Individual कहा जाता है जिसका अर्थ है—Indivisible अर्थात् जिसका विभाजन नहीं किया जा सके। वेद में व्यक्ति की ऐसी ही अविभाज्य इकाई के रूप में कल्पना की गई है।

वैदिक-जीवन का आधार यज्ञ है। इसमें परवर्तीकाल में विकसित ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन आदि की समस्त धारणायें समाहित हो जाती हैं। यज्ञ उस आन्तरिक और बाह्य प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा यजमान यज्ञपुरुष के प्रति सर्मपित हो जाता है। यज्ञ पुरुष की ओर गति करने, उसके प्रति स्वयं को सर्मपित करने और उससे तादात्म्य स्थापित करने की सम्पूर्ण साधना का नाम यज्ञ है। यज्ञिय होने के उपरान्त यजमान इस साधना को करता है। पति और पत्नी दोनों के संयुक्त जीवन को यज्ञिय कहा गया है। पति-पत्नी का आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध ही पारिवारिक और सामाजिक-जीवन की धुरी है। वैदिक जीवन-पद्धति में यज्ञ का सम्बन्ध दाम्पत्यजीवन से जोड़ कर वैयक्तिक और सामाजिक आचार-व्यवहार में समन्वय स्थापित किया गया है। सामाजिक-सन्दर्भ में व्यक्तित्व का चरम विकास ही वैदिक-परम्परा का आदर्श रहा है। कुछ मनोभौतिक शक्तियों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना अथवा उन्हें प्राप्त करके उनका प्रदर्शन करना वैदिक-दृष्टि में श्लाघनीय नहीं समझा गया। वहां व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग एक ऐसी पूर्ण और सहज जीवन-पद्धति के विकास के लिए करने पर बल दिया गया है जिसमें मनोभौतिक शक्तियों को व्यक्तित्व के विकास और समाज-निर्माण के मार्ग में सहयोगी बना लिया जाता है। मध्यकाल में तांत्रिक-साधना और हठयोग की पद्धति के माध्यम से जो सिद्धि-साधन परम्परा चली उसका वैदिक परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कबीरदास ने एक सहज-समाधि की बात कही है——

साधो ! सहज समाधि भली।

'समाधि' का तात्पर्य है——पूर्णता का आधान। जब सहजता में पूर्णता की प्रतीति होने लगे तो उसे सहज-समाधि कहा जायगा। कबीर के द्वारा ऐसी समाधि पर बल दिया गया है। वैदिक परम्परा भी ऐसी सहज-समाधि पर बल देती है। तल्लीनभाव से उत्पादक श्रम करने वाले व्यक्ति के लिए ऐसी समाधि बिना किसी आयास के सिद्ध हो जाती है। इस समाधि का फल होता है—कर्म कुशलता। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मकुशलता को योग माना गया है——योगः कर्मसु कौशलम्। यज्ञ का चरम फल भी कर्मकुशलता ही माना जा सकता है।

यजन, भजन और जयन—ये तीन तत्त्व वैदिक जीवन पद्धति के मूलाधार हैं। प्रथम, वह राजमार्ग है जिस पर होकर जाने पर व्यक्ति सृष्टि की परम सत्ता से साक्षात्कार करता है। दूसरे तत्त्व को यजन की भौतिक उपलब्धि और तीसरे तत्त्व को

मानसिक उपलब्धि कहा जा सकता है। भौतिक उपलब्धि से मानसिक उपलब्धि का महत्त्व अधिक है। इसी लिए वेदानुयायी सुख से अधिक आनन्द पर बल देता है। 'वयं जयेम्'—इस मंत्रांश में परमानन्द की जयलाभ द्वारा कामना की गई है। वैदिक दृष्टि यजन, भजन और जयन के समन्वित रूप को योग मानती है। गीता में कहा गया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

आहार, विहार, कर्मचेष्टा, शयन और जागरण—सब में सम्यक्त्व की दृष्टि न हो तब तक योग-सिद्धि नहीं हो सकती। यह दृष्टि यज्ञ से मिलती है। जंगलों में बैठकर कितने लोगों ने एकान्तसाधना से मोक्ष प्राप्त की—यह जानना कठिन है। ऐसे लोगों के इतिहास नहीं लिखे गये। उनके कोई नामलेवा भी नहीं रहे। दूसरी ओर कण्व, गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाल्मीकि, व्यास आदि ऋषियों को सब जानते हैं—वे गृहस्थ थे, साधक थे—याजक थे, भगवान् थे और जयी थे। अपनी कृतियों से, अपने यश से वे आज भी हमारे बीच में विद्यमान हैं। राजसिंहासन को प्रकंपित करने वाले क्रान्तिकारी मनीषी परशुराम अथवा विष्णुगुप्त चाणक्य क्या योगी नहीं थे?

वैदिक परम्परा में योग के नाम से विकसित एक विशिष्ट चिन्तन परम्परा में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के मार्ग को योग-साधना कहा गया है। वहां योग से तात्पर्य चित्तवृत्तियों का निरोध माना गया है—योगश्चित्त—वृत्तिनिरोधः। चित्तवृत्तिनिरोध-उद्देश्य नहीं हो सकता। इसके स्थान पर इसे उद्देश्य-सिद्धि का मार्ग कहा जा सकता है। जैसे यम और नियम के अन्तर्गत हमारे सारे आचार-विचार आ जाते हैं वैसे ही ध्यान और समाधि में—जो इस मार्ग के अन्तिम छोर हैं—हमारी उद्देश्यनिष्ठता और तादात्म्य की स्थिति आ जाती है। किसी भी कार्य को पूरा करने के लिए यह स्थिति अनिवार्य होती है। अतः स्पष्ट है कि पातंजल-योग उद्देश्य-सिद्धि के लिए राजमार्ग का निर्माण मात्र करता है। वह किसी ऐसी वस्तु से परिचित नहीं कराता जो अतिसामान्य या अलौकिक हो। तथा जिसे जानने के बाद ज्ञातव्य कुछ नहीं रह जाता। जीवन के उद्देश्य से बड़ी और रहस्यमयी कोई वस्तु संसार में नहीं है, पर उसको पा लेना असंभव भी नहीं है। योग मार्ग से ही उसे सिद्ध किया जा सकता है। कर्मजनित आनन्द ही सच्चा आनन्द है। उसे कर्म-साधना द्वारा ही पाया जा सकता है। वेद कहता है—मेरे दायें हाथ में कर्म-सामर्थ्य है और जय तो बायें हाथ का खेल है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

वेद में मनुष्य को ऋण कहा गया है—ऋणं ह वै जायमानः। मनुष्य का काम इस ऋणता को धनता में परिवर्तन करना है। इसी दृष्टि से वैदिक-प्रार्थना में परमेश्वर से बार-बार धन की याचना की गई है। यज्ञ धनप्राप्ति का साधन है। उससे देवगण सन्तुष्ट होते हैं और धनलाभ में सहायक वन जाते हैं।

विवेकयुक्त कर्म की संज्ञा यज्ञ है। वह सामान्य कर्म नहीं होता। श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है—यज्ञं वै श्रेष्ठतमं कर्म। हमारा कर्म श्रेष्ठ हो इसके लिए यह आवश्यक है कि हम कर्म करने में कुशल हों। कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए व्यक्ति जो-जो साधन अपनाता है, जिस-जिस तरह से मन में

संकल्प करता है, योजनाएं बनाता है और तल्लीनतापूर्वक उस कार्य को सिद्ध करता है--इस सब प्रक्रिया का नाम है यज्ञ और इसे सिद्ध करने में वह योग का आश्रय लेता है।

यजन के साथ भजन और जयन का समन्वय कैसे होता है ? भजन का तात्पर्य है-भग या समृद्धि के पाने की प्रक्रिया। भजन से मनुष्य भगवान् बनता है। कर्मरत व्यक्ति के लिए भगवान् बनना सहज है। वेद कहता है--'यह हाथ मेरा भगवान् है और यही भगवत्तर है।' तात्पर्य यह है कि मनुष्य की भगवत्ता उसके भुजबल पर निर्भर है। अपनी भुजाओं से वह जितना श्रम करेगा उसे उतनी ही समृद्धि मिलेगी। सारी सुख-सुविधाओं के मूल में मनुष्य का श्रम ही रहता है। श्रान्त व्यक्ति के देवता भी सखा बन जाते हैं--न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। यजन से सिद्ध कर्मकुशलता का उपयोग करके मनुष्य भगवान् बन सकता है।

जयन से तात्पर्य है--आदि से अन्तिम सिद्धि तक कर्म करने के पीछे रहने वाली मानसिक परिस्थिति में सफलता के आनन्द का समावेश। कर्मठ व्यक्ति इस आनन्द को उस क्षण से ले सकता है जब कार्य का आरम्भ हुआ। मिलने वाली सफलता तो उस आनन्द को चरम कोटि तक पहुंचाने में साधनमात्र है। जयशील बनने की प्रार्थना अनेक वेदमन्त्रों में आई है। वैदिक राष्ट्रीयगीत में कहा गया है--जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। जीवन जय का ही दूसरा नाम है। इसलिए जीवन की जितनी पगडंडियां हैं और हो सकती हैं, उन सब पर जयी होने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता है।

एक बात और ! वैदिक परम्परा में मन और तन की पृथक् सत्ता को भी नहीं स्वीकारा गया है। इसके स्थान पर तन को स्वस्थ, प्राणों को सबल और मन को सुदृढ़ संकल्पशील बनाने की चेष्टा पर बल दिया गया है। वस्तुतः जीवन-यापन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही वैदिक-दृष्टि में योग कही जा सकती है जिसे यज्ञ शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और जिसकी स्थूल उपलब्धि है भगवत्ता तथा मानसिक उपलब्धि है--जय--आत्म-विजय !



कर्मकाण्ड का सही रूप

श्री भगवद्दत्त वेदालंकार,

(ऋ. १म । २य, ३य सूक्तों का अध्ययन)

कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड एक ही वस्तु के पूर्वोत्तर दो पार्श्व हैं। एक ही सीढ़ी के दो सोपान हैं प्रथम सोपान के पश्चात् ही ऊपर के सोपान पर पहुंचा जा सकता है। कर्मकाण्ड का सम्बन्ध प्रमुख रूप से भूतों व भौतिक देह से है तो ब्रह्मकाण्ड का सम्बन्ध आत्मतत्त्व से। भौतिक देह को नगण्य कर आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त किया जा सकता। भौतिक देह को स्वच्छ, पवित्र और दिव्य बनाकर ही आत्म-ज्योति का प्रकाश ब्रह्माण्ड में सर्वत्र फैल सकता है। कर्मकाण्ड अविद्या का क्षेत्र है ब्रह्मकाण्ड विद्या का। विद्या और अविद्या दोनों ही उपादेय हैं। इनका समन्वय ही घने अन्धकार (अन्धन्तमः—यजु.) को विनष्ट कर सकता है। योग दृष्टि से कर्मकाण्ड शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि की यौगिक प्रक्रियाएं हैं। ब्रह्मकाण्ड आत्मतत्त्व का उदभावन व उसकी उपलब्धि है। बाह्य यज्ञ यागादि आन्तरिक यज्ञों की प्रतिकृति हैं और वे आभ्यन्तर यज्ञों के सहायक व उनमें पड़ने वाली आहुतियों के निष्पादक, प्राकृतिक यज्ञों के उद्दीपक व शुद्ध पवित्र साधन हैं। कर्मकाण्ड में ही सब वर्ण्य विषय हैं ब्रह्मकाण्ड तो वर्ण्य विषय से ऊपर है, वाक् मनस से अगोचर है, त्रिगुणातीत है, वेदों का वर्ण्य विषय त्रिगुण को लेकर है। यही त्रिगुण कर्म तथा क्रिया का आधार है। इसी दृष्टि से जैमिनी ऋषि ने कहा है—

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"

अतः वेदों के कर्मकाण्डपरक होने में भय किसलिए ? ब्रह्म भी जब त्रिगुण का आश्रय लेता है तभी वर्णन की कोटि में आता है। वेदों का सत्य अर्थ तो भगवान् ही जानता है पर यहां कर्मकाण्ड सम्बन्धी विनियोगों को आधार मानकर ऋ. १म मण्डल के २य ३य सूक्तों का आध्यात्मिक (शारीर-कर्मकाण्ड) क्षेत्र मेंअर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है।

ऋग्वेद सायण भाष्य में २य और ३य सूक्तों का विनियोग निम्न प्रकार दिया है—आत्रेयमनुक्रमणिका—"वायो वायव्यैन्द्रवायवमैत्रावरुणास्तृचा अश्विना द्वादशाश्विनैन्द्रवैश्वदेवसारस्वतास्तृचाः सप्तैताः प्रउग देवताः" इसका तात्पर्य यह है कि द्वितीय और तृतीय सूक्तों की तीन-तीन ऋचाओं को लेकर एक-एक तृच बनाया गया है इस प्रकार संख्या में ७ तृच बन जाते हैं। इनमें प्रथम तृच वायु देवता का, द्वितीय तृच इन्द्रवायु का, तृतीय तृच मित्रावरुण का, इसी प्रकार ३ य सूक्त का प्रथम तृच अश्विनी देवता का, द्वितीय तृच इन्द्र देवता का, तृतीय तृच विश्वेदेवों का, और चतुर्थ तृच सरस्वती देवता का। इस प्रकार ये ७ तृच बनते हैं। इन सातों तृचों का विनियोग प्रउग शस्त्र में किया गया है। प्रउग शस्त्र एक कर्मकाण्डीय परिभाषा है। अब विचारणीय यह है कि प्रउग शस्त्र' क्या है। इसमें भी 'प्रउग' पर पहिले विचार करते हैं। प्रउग – शकट (बैलगाड़ी) के अग्र भाग (कस्तम्भी)से लेकर पीछे का सम्पूर्ण शकट प्रदेश प्रउग कहलाता है, यह प्रउग आगे से संकुचित तथा पीछे से चौड़ा होता हैं। अगले संकुचित भाग पर शकटवाहक बैठता है और पीछे अन्नादि भरा होता है। अन्नादि के स्थान को नीड कहा जाता है। 'मीमांसा कोष१' के आधार पर शकट के दो बांस जो

१ अत्र प्रउगं नाम शकटस्य वंशद्वयम्। यत् एकतः चक्रद्वयछिद्रगतकाष्ठमयलोहमयान्यतरदण्डमध्ये बध्यते अपरतश्च युगमध्ये बध्यते।

कि एक ओर जुए से बंधे होते हैं और दूसरी ओर पहियों को जोड़ने वाले लोहदण्ड से प्रउग कहलाते हैं।

वेदों में यह मानवशरीर भी रथ व शकट कहा गया है मस्तिष्क से लेकर नाभि प्रदेश तक का भाग 'प्रउग' नाम से कहा जा सकता है। मनुष्य का यह समग्र शरीर अध्यात्म क्षेत्र के अन्तर्गत हैं परन्तु शास्त्रों में शरीर के 'प्रउग' भाग को अध्यात्मतम माना है। कहा भी है--'एतद्ध वै यजमानस्या ध्यात्मतममिवोक्थं यत् प्रउगम्" ऐ ब्रा. ३।३ यजमान का यह 'प्रउग' भाग अध्यात्मतम भाग है, इसी भाग में शक्तियों का उत्थान तथा ऊर्ध्वस्थापन होता है। इसी प्रउग भाग में अन्नादि भरा जाता है। यह अन्न भी दो प्रकार का है, एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियों द्वारा गृहीत सप्त विध अन्न। कहा भी है--"अन्नाद्यं वा एतेनावरुन्धे यत् प्रउगम् ऐ. ब्रा. ३।२ स्थूल अन्न तो प्रउग के नीचे के भाग उदर में भरा जाता है और सप्तविध इन्द्रिय ग्राह्य सूक्ष्म अन्न प्रउग के ऊर्ध्व भाग सिर में। यह सप्तविध सूक्ष्म अन्न प्राणात्मक हैं, कहा भी है-- "प्राणानां वा एतदुक्थं यत् प्रउगं सप्तदेवताः शंसति। सप्त वै शीर्षन्प्राणाः शीर्षन्नेव तत् प्राणान्दधाति" ऐ. ब्रा. यह 'प्रउग' सिर से लेकर नीचे नाभि तक फैला हुआ है पर सिर के ७ प्राण ही यहां प्रमुख रूप से लिये गये हैं क्योंकि ये ७प्राण(Brain centres) ही नीचे तक फैले हुए हैं। इस दृष्टि से २ य और ३ य सूक्तों के उपर्युक्त ७ तृचों के देवता शीर्षस्थ ७प्राणशक्तियां हैं। ये ७ प्राणशक्तियां जब नीचे शरीर में आकर कार्य का निर्वाह करती हैं, शरीर में इनका प्रयोग होता है उसी अवस्था में इन्हें 'प्रउग' कहा जाता है। शांखायन ब्राह्मण[1] में कहा है कि "ये शीर्षस्थ प्राण देवता जब तृतीय सवन (मस्तिष्क) से नस-नाड़ियों द्वारा शरीर से बाह्य भाग और अधोभाग की ओर प्रयाण करते हैं और वहां प्रयुक्त होते हैं तब इन प्राणों की प्रउग संज्ञा होती है। अतः इन प्राणों का प्रयुक्त होना ही प्रउगत्व है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी अपने यजुर्वेद भाष्य १५।११ में प्रउगम्--प्रयोगार्हम्' यह अर्थ दिया है जिसको ब्राह्मण की ऊर्ध्व पंक्तियां भी पुष्ट करती हैं। इन प्रउग नामक प्राणों का मस्तिष्क, हृदय तथा उदर में जहां भी प्रयोग होगा वहां ही वे प्राण कर्मकाण्डीय भाषा में 'प्रउग' नाम से कहलायेंगे। वैसे प्रायः ये ऊपर से नीचे की ओर ही प्रयुक्त होते हैं। इसी दृष्टि से ब्राह्मण में "ता अमुतोऽर्वाच्यो... अभिप्रायुञ्जत" कहा है। याज्ञिक परिभाषा में सवनों की दृष्टि से इन प्रउग प्राणों के निम्न विभाग किये जा सकते हैं--

प्रउगम्-	सवन-	लोक-	शरीर-	देवता-
१. गायत्रम्-	प्रातःसवन-	पृथ्वी-	उदर-	अग्नि-
२. ऐन्द्र-	माध्यन्दिनसवन-	अन्तरिक्ष-	हृदय-	इन्द्र-
३. वैश्वदेव-	तृतीयसवन-	द्यु-	मस्तिष्क-	विश्वेदेव-

इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर 'प्रउग' नामक कर्मकाण्डीय परिभाषा पर संक्षिप्त विचार अभिव्यक्त किया।

शस्त्र-स्तोत्र--

प्रउग को शस्त्र क्यों कहा गया है इसको स्पष्ट रूप में समझने के लिए स्तोत्र, शस्त्र तथा ग्रह इन तीनों पर दृष्टिपात करना चाहिये। क्योंकि प्रायः इन तीनों का साहचर्य रहता है। और इस प्रकरण में ऐतरेय ब्राह्मण में 'प्रउग' को आगे ग्रह भी कहा गया है। इनमें स्तोत्र साम से किया जाता है, शस्त्र ऋक् से तथा ग्रह यजु से। स्तोत्र और शस्त्र ये दोनों पद स्तुतिवाचक ष्टुञ् स्तुतौ तथा

१ ता अमुतोऽर्वाच्यो देवतास्तृतीयसवनात् प्रातः सवनमभि प्रायुञ्जत तद् यदभिप्रायुञ्जत तत् प्रउगस्य प्रउगत्वम्।

शंसु स्तुतौ धातुओं से निष्पन्न होते हैं तो फिर प्रश्न यह पैदा होता है कि जब ये दोनों पद स्तुतिवाचक हैं तो इनमें भेद क्या है ? इस सम्बन्ध में एक समाधान तो साम और ऋक् पदों से ही हो जाता है। साम और ऋक् में जो भेद है वही स्तोत्र और शस्त्र में है। अतः कहा भी है" प्रगीतमन्त्रसाध्यं स्तोत्रम्" अर्थात् प्रकृष्ट गान वाले मन्त्रों से साध्य स्तोत्र कहलाता है और "अप्रगीतमन्त्रसाध्यं शस्त्रम्" गान रहित मन्त्रों से निष्पन्न होने वाला शस्त्र होता है। इस प्रकार साममन्त्रों से उद्गाता स्तोत्र करता है और ऋक्. मन्त्रों से होता शस्त्र किया करता है। श.प. ४।३।२।३ में आता है कि उद्गाता१ द्वारा किया जाना हुआ साम प्रजापति रूप है और होता का ऋक् योषा (स्त्री) रूप है। इस प्रकार ऋक् और साम जायापती है। जिस प्रकार इनके मिथुन से सामगान होता है और ऋक् में परिवर्तन आजाता है, उसी प्रकार मानव सृष्टि में भी उत्पत्ति होती है। स्तोत्र द्वारा रेतस् का सिञ्चन होता है तो शस्त्र द्वारा उस रेतस् का अवयवादि रूप में तक्षण होकर प्रजनन होता है। यह तक्षण और प्रजनन सामान्य मानव शरीर की उत्पत्ति में तथा मानव के अन्दर दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति में प्रभावी होता है। गर्भाधान के समय तत्सम्बन्धी संस्कार में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वे इसी तथ्य की ओर निर्देश करते हैं। दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति तो शास्त्रों में पग-पग पर दर्शायी गई है। इस प्रकार शस्त्र उन ऋचाओं का नाम है जो कि शरीर प्राण और अवयवादि का सुसंस्कृत रूप में तक्षण करते हैं और रूप देते हैं।

---

१. स एतत् प्रजापतिरुद्गाता योषायामृचि होतरि रेतः सिञ्चति यत् स्तुते तद् होता शस्त्रेण प्रजनयति तच्छ्यति यथास्यं पुरुषः शित-स्तद्यदेनच्छ्यतिस्तस्माच्छस्त्रं नाम। श.प. ४।३।२।३ (अर्थात्—अवयवादिरूपैः स्पष्टी-करोति (शो तनू करणे)

ग्रह—

ग्रह पर भी शास्त्रों में बड़ा विचार है। भिन्न २ यज्ञों में भिन्न २ क्षेत्रों में भिन्न २ ग्रह हैं पर उपर्युक्त सूक्त को दृष्टि में रखकर ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर आध्यात्मिक क्षेत्र में ही कुछ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाता है।

यजु से ग्रह किया जाता है। मानव शरीर में यह वीर्य रूपी सोम शरीर के विभिन्नशक्ति स्थानों व आयतनों में जब ग्रहण किया जाता है तब वे आयतन (पात्र) ग्रहनाम से कहे जाते हैं। बाह्य कर्मकाण्ड में यह एक लकड़ी का पात्र१ होता है। देवरूप इन्द्रियों ने इस वीर्य रूपी सोम को अपने आयतनरूपी पात्रों में ग्रहण किया। अतः ये पात्र२ ग्रह हैं। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि ग्रह से केवल इन पात्रों का ही ग्रहण नहीं होता प्रत्युत तत्रस्थित सोम व प्राणादि३ शक्तियों का भी ग्रहण होता है। अर्थात् सोमरूपी अन्न और शक्ति से भरा हुआ वह पात्र ग्रह कहलाता है। कहा भी है कि सोम४ रूपी अन्न जिसदेवता को उद्देश्य कर

---

१. गृह्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या ग्रहः दारुमयं पात्रम्। श.प. ४।१।१।१ (सायणभाष्य)
२. तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णत तस्माद् ग्रहा नाम। श.प. ४।१।३।५
तदा एनं सोमं यस्मात् कारणात् पात्रै विभज्य देवा अगृह्णत तस्मात् तानि पात्राणि ग्रहा इति सिद्धाः। सायणाचार्य—ग्रहेणागृह्णात् तद ग्रहस्य ग्रहत्वम्। तै.ब्रा.२.२.२
३. प्राणो वा अस्यैष ग्रहः श.प. ४।१।१।२२
४. स य एष सोमग्रहः अन्नं वा एष सः। स यस्मै देवताया एतं गृह्णन्ति सा ऽस्मै देवता एतेन ग्रहेण ग्रहीता तं कामं समर्धयति यत् काम्या गृह्णन्ति। श.प.१।२।२।१९

तथा जिस कामना से दिया जाता है, उस मे तृप्त हो वह देवता उस कामना को पूर्ण करता है।

उक्थ—

शास्त्रों में आता है कि ये प्रउग नामक ग्रह उक्थ भी कहलाते हैं, यथा—"ग्रहोक्थं वा एतद् यत् प्रउगम् ऐ.ब्रा. ३।१ इन प्रउग नामक ग्रहों (ऐन्द्रियिक प्राणों) के आयतनों को उक्थ कहा जाता है क्योंकि इन ऐन्द्रियिक आयतनों से शक्ति का उत्थान और प्रादुर्भाव होता है। प्राणशक्ति के उत्थान-उन्नति के कारण ही इन्हें उक्थ कहा जाता है। इस उत्थान की कोई सीमा नहीं है, दिव्य शक्ति का भी उत्थान हो सकता है। वास्तव में दिव्य शक्ति के उत्थान तथा उद्गम का ही यहां वर्णन समझना चाहिये क्योंकि सामान्य प्राणोद्गम तो स्वभावतः सभी में होते ही हैं, इसके लिए शास्त्र वर्णन की आवश्यकता नहीं है। तै. ब्रा. २।५।८।७ में उक्थ का उक्थत्व इस प्रकार दर्शाया है। "उक्थैरुदस्थापयन् तदुक्थानामुक्थत्वम्" अर्थात् उक्थों का उक्थत्व इस बात में है कि प्राणों का उत्थान होना, उन्नत होना, दिव्य बनना अपने आदि स्रोत के समकक्ष बनना आदि। इस प्रकार संक्षेप में प्रउग, स्तोत्र, शस्त्र, ग्रह तथा उक्थ पर विचार किया। इन ग्रहों को तालिका में निम्न प्रकार रक्खा जा सकता है—

उक्थ दृष्टि—

	देवता—	ग्रह—	सूक्त	मन्त्र
१.	वायु	×	ऋ.१।२	१—३
२.	इन्द्र+वायु—	वाक्-प्राण—	,,	४—६
३.	मित्र+वरुण—	चक्षु-मन	,,	७—९
४.	अश्विन—	श्रोत्र-आत्मा	ऋ.१।३	१—३
५.	इन्द्र—	शुक्र-मन्थी	,,	४-६
६.	विश्वदेव—	आग्रयण	,,	७-९
७.	सरस्वती—	वाक्	,,	१०-१२

संस्कार-दृष्टि—

१.	वायु से		रेतस् का संस्कार
२.	इन्द्र+वायु	,,	प्राण-अपान
३.	मित्र+वरुण	,,	चक्षु
४.	अश्विनौ	,,	श्रोत्र
५.	इन्द्र	,,	ग्रीवा-शिर
६.	विश्वेदेव	,,	हाथ आदि अंग
७.	सरस्वती	,,	वाक्

द्विदेवत्य प्राण—

ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण तथा आश्विन ये तीन प्राण द्विदेवत्य१ कहलाते हैं क्योंकि ये दो-दो देवता मिलकर कार्य का निर्वाह करते हैं। इन प्राणों को द्विदेवत्य रूप में विचार करने का भी एक प्रयोजन है और वह यह है कि वाक्, चक्षु तथा श्रोत्र इन में दो-दो देवता का समन्वय और सामञ्जस्य समुचित रूप में किया जाये जिससे कि ये प्राण प्रवृद्ध हों और इनमें दिव्यता व ऋषित्व उद्भूत हो। यही तथ्य ऐतरेय ब्राह्मण ९अध्याय—२य, ३य खण्डों में पल्लवित हुआ है। जब इन वाक्, चक्षु व श्रोत्र सम्बन्धी-प्राणों को अन्तर्मुखी व आन्तरिक स्थिति में देखें तो ये 'एक पात्र' संज्ञा से अभिहित होते हैं और जब होमकाल अर्थात् बाह्य जगत् में प्रयोग की दृष्टि

---

१. वाक् च प्राणश्चैन्द्रवायवश्चक्षुश्च मनश्च मैत्रावरुणः श्रोत्रं चात्मा चाश्विनः। ऐ. २।२६, ते वा एते प्राणा एव यद्द्विदेवत्याः यस्मात् होमकाले पात्रद्वयं तस्माच्चक्षुरादयः प्राणाः स्वस्वगोलकेषु द्वन्द्वं द्वौ द्वौ भूत्वा वर्तन्ते सायणाचार्य।

में देखते हैं तब ये दो गोलकों के कारण दो-दो पात्रों वाले होते हैं। वाक् की प्राण में, चक्षु की मन में तथा श्रोत्र की आत्मा में आहुति पड़े तो यह आन्तरिक होम कहलाता है। इससे दैव्य प्राण उत्पन्न होते हैं और उनमें ऋषित्व उत्पन्न होता है। यह ऐ.ब्रा. में पठित मन्त्रों से स्पष्ट है, उदाहरणार्थ--"उपहूता वाक् सहप्राणेनोप मां वाक् सहप्राणेनह्वयतामुपहूता ऋषयोदैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजा० प्राणा वा ऋषयोदैव्यासः ।। ६ अ.। ३ ख.।

इस प्रकार यहां प्राणों को दैव्यासः और ऋषयः कहा गया है। यही मन्त्ररचना चक्षु तथा श्रोत्र आदि के लिए भी हुई है।

ऋग्वेद के १म मण्डल के २य तथा ३य सूक्तों में जो देवता तथा मन्त्रों में क्रम बताया गया है वह निष्प्रयोजन नहीं है। संक्षेप में दो एक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर वृद्धावस्था तक जो २ शक्ति क्रमशः प्रबल होती जाती है वही मन्त्रों व देवताओं के क्रम में निर्दिष्ट हुई है। उत्पत्ति के समय प्राण की ही सत्ता होती है, श्वास प्रश्वास चालू होता है। तदनन्तर इन्द्र और वायु का अधिकार होता है। वाणी की उत्पत्ति, उसका क,च,ट,त,प, आदि वर्णों द्वारा विभक्तीकरण आदि होता है, तदनन्तर चक्षु और मन (मैत्रावरुण) का सक्रिय प्रभाव होता है। मनुष्य संकल्प विकल्प करता है। चक्षु से मनस्थ बातों को पढ़ा जा सकता है। यौवन में चक्षु और मन का ही अधिक प्राबल्य होता है। इस समय मनुष्य उपदेश अनसुना किया करता है पर जब यौवन पार कर जाता है तब आश्विन सम्बन्धी श्रोत्र और आत्मा का साहचर्य प्रबल होता है। इस समय जो उपदेश आदि श्रवण करता है उसका आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। आश्रमों की दृष्टि में देखें तो निम्न क्रमिक विभाग हो सकते हैं।

१. ब्रह्मचर्य–प्राण-वाक् ।
२. गृहस्थ–चक्षु-मन ।
३. वानप्रस्थ + संन्यास–श्रोत्र-आत्मा ।

शास्त्रों में इन ऐन्द्रवायव आदि प्राणों की शक्ति तथा उनके गुण निम्न प्रकार दर्शाये हैं--

१. ऐन्द्रवायव–
  १. वाक्पाः-वाणी का रक्षक
  २. पुरूवसुः–प्रभूत ऐश्वर्य -वाला वा प्रभूतनिवास-वाला ।

२. मैत्रावरुण–
  १. चक्षुष्पाः–आंखों का रक्षक
  २. विददवसुः–लक्ष्य पर पहुंचकर ऐश्वर्यप्राप्त करने वाला (विद्लृलाभे)

३. आश्विन–
  १. श्रोत्रपाः–श्रवणशक्ति का रक्षक
  २. संयद् वसुः–ऐश्वर्य को घेरने वाला अन्यत्र इस शक्ति को 'परिहार' भी कहा है।

प्रश्न यह पैदा होता है कि इन ऐन्द्रवायव आदि प्राणों का वाणी चक्षु आदि से क्या सम्बन्ध है और उसका क्या प्रभाव है? इस सम्बन्ध में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति के प्राण प्रबल होते हैं, वही इन्द्र बन सकता है, स्वामित्व कर सकता है। ऐसे व्यक्ति की वाणी में ओज तथा तेज होता है। उसके आदेश को कोई उलंघन नहीं कर सकता। वस्तुतः वायु अर्थात् प्राण वायु ही सब कुछ है। इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१९में कहा कि 'यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः" जो वायु है वही इन्द्र है और जो इन्द्र है वही वायु है।

इसी प्रकार मैत्रावरुण प्राण का चक्षु से सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति के अन्दर मैत्रीभावना विद्यमान रहती है सब को मित्र की चक्षु से देखता है और जो अमैत्री भाव है उन्हें वारुणी शक्ति से हटाता रहता है। उसकी चक्षु शक्ति प्रबल होती है, शृंगारिक दृष्टि काम, और क्रोध दृष्टि से आंखें शक्तिहीन हो जाती हैं। श. प. ४।१।४।१ में मैत्रावरुण ग्रह से ऋतु और दक्ष का ग्रहण किया है। वहां अध्यात्म में ऋतु से मन (संकल्प) को तथा दक्ष को लिया गया है।

ऋतुदक्षौ हवा अस्य मित्रावरुणौ। एतन्वध्यात्मं स यदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव ऋतुरथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षो मित्र एव ऋतुर्वरुणो दक्षो० ॥

श.प. ४।१।४।१

आत्मा का स्थान हृदय में है जो हृदय में बैठकर गुरु का उपदेश आदि श्रवण करता है वही आत्मा पर प्रभाव डालने वाला तथा स्थायी हो सकता है।

द्रष्टव्य—

द्विदेवत्व: प्राणों की उत्कृष्टता सम्पादन का उपाय—

ऐतरेय ब्राह्मण में इन ऐन्द्रवायव आदि द्विदेवत्य प्राणों को उत्कृष्ट बनाने का निम्न उपाय दर्शाया है। वह इस प्रकार है—"प्राणा वै द्विदेवत्या अनवानं द्विदेवत्यान् यजेत् प्राणानां संतत्यै प्राणामनाविच्छेदाय" ऐ. ब्रा. २।२८।

इसका भाव यह है कि प्राणों का 'अनवान' रूप में यजन करे, इससे प्राणों का व्यवच्छेद नहीं होता। 'अनवान' कहते हैं 'सन्ततको। सन्तत और निरन्तर चक्षु आदि इन्द्रिय का यजन अर्थात् मेल करे। इस रहस्य को हम 'त्राटक' से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी लक्ष्य व ध्येय वस्तु पर निरन्तर बिना किसी व्यवच्छेद के दृष्टिक्षेप करें तो यह याज्ञिक परिभाषा में "अनवानं यजेत्" कहा जा सकता है। ब्राह्मणकार के शब्दों में "पुरस्तात् प्रत्यञ्चं मैत्रावरुणं भक्षयति तस्मात् पुरस्ताच्चक्षुषी०' ऐ.ब्रा. २।२७।

बाह्य कर्मकाण्ड में ड्रामे के तौर पर इसी उपर्युक्त विधि से सोम का भक्षण किया जाता है। आन्तरिक क्षेत्र में चक्षु और मन की योजना से आन्तरिक सोम का भक्षण होता है। क्योंकि आंखें सामने हैं अतः सामने वस्तु पर त्राटक करे यह सोम का भक्षण होगा। इस प्रकार ऐन्द्रवायव आदि द्विदेवत्य प्राणों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार किया गया।

ऋग्वेद १म मण्डल के इन २य तथा ३य सूक्तों में वायु आदि ७ प्रउग नामक देवताओं को सोमपान कराया गया है इससे पूर्व कि हम मन्त्रों के अर्थ प्रस्तुत करें संक्षेप में यह भी दर्शा देना चाहते हैं कि सोम क्या है?

सोम—

ब्रह्माण्ड में जितनी भी प्राकृतिक शक्तियां हैं वे सब मानवशरीर में सूक्ष्म, गुह्य व प्रच्छन्न रूप में सन्निहित हैं। मनुष्य में इन शक्तियों का उद्गम तथा दिव्यीकरण सोमपान से होता है। इसीलिए वेदों में सोम को सब देवताओं का अन्न बताया गया है। इस सोम के भक्षण से ये शक्तियां शरीर में स्थिर रहती हैं प्रवृद्ध होती हैं और दिव्य बनती हैं। सोम भी एक प्राकृतिक तत्त्व है, जिसका असली निवास स्थान द्युलोक है वहीं से यह सोम सूर्य, चन्द्रमा वर्षा व वायु आदि के माध्यम से पृथिवी पर आकर ओषधियों तथा बनस्पतियों में रसरूप में

रहता है (पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमोभूत्वा रसात्मक:-गीता)। वेद में कहा है 'दिव: पीयूषं ऋ. ९।५१।२ दिव: कवि: ऋ. ९।९।१ द्युलोक का अमृत है जिसके पान करने से मनुष्य में कवित्व अर्थात् क्रान्तदर्शिता पैदा हो जाती है।

मनुष्य में यह सोम दो प्रकार से आता है एक ओषधिवनस्पति आदि अन्नों के भक्षण से तथा दूसरे द्युलोक में अपनी चेतना को केन्द्रित करने से। अन्न रसादि द्वारा भक्षण किया गया सोम मिश्रित होता है, अपवित्र होता है, उसे पवित्र तथा पवमान बनाने की आवश्यकता होती है। इसी कारण शास्त्रों में शुद्ध, पवित्र और सात्त्विक अन्न भक्षण करने का विधान हुआ है। भक्षित अन्न रस रक्त आदि रूपों में परिणत होता हुआ जब वीर्य और ओज रूप में पहुंचता है तब शास्त्रों में इसे सोम कहा गया है। पर यह वीर्य और ओज पूर्ण सोम नहीं है यह सोम का आयतन वा आधार है जिसमें कि सोम विद्यमान होता है अर्थात् वीर्य व ओज में सोम का निवास है एक प्रकार से सोम इनके माध्यम से प्रकट तथा क्रियाशील होता है। जितना वीर्य और ओज शुद्ध पवित्र होगा उतना ही अधिक यह सोम स्वकार्य में सक्रिय होगा और सफल होगा। ऊर्ध्व रेतस् प्रक्रिया द्वारा जब यह सोम हृदय तथा मस्तिष्क में पहुंचता है तब यह शुद्ध पवित्र हो देवों का अन्न बनता है।

इन्द्रियों में, मस्तिष्क में जो रस है वह सोम है 'आत्सोम इन्द्रियो रस:" ऋ. ९।४७।३ "सोमो राजा मस्तिष्क:" अथर्व. ९।७।२ यहां भी हमें यह समझना चाहिये कि यहां सोम का गौण रूप में प्रयोग हुआ है क्योंकि अन्यत्र कहा गया है कि "सोमो अर्षति.....दधान इन्द्रियं रसम्" ऋ. ९।२३।४। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सोम जिन २ आयतनों में रहता है वे आयतन भी गौण रूप में सोम कहलाते हैं। इसी दृष्टि से सोम जल भी है रस भी है वीर्य भी है इत्यादि प्रयोग शास्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। हृदय तथा मस्तिष्क में एकाग्र हुए मनरूपी वज्र का प्रहार सोम के आवरणों को तोड़ गिराता है अथवा मनरूपी विद्युत् का उग्र ताप मलों को भस्म कर देता है। इस प्रकार पवित्र तथा पवमान बने सोम का भक्षण कर इन्द्रियां दिव्य बनती हैं, मन में शुद्ध पवित्र विचार पैदा होते हैं दिव्यता उपजती है। सोमपान करने का दूसरा उपाय सुपर्ण बन द्युलोक से सोमाहरण करने का है। यह वीर्य ही सपर्ण बनता है। ऊर्ध्वरेतस्प्रक्रिया द्वारा यह वीर्य मस्तिष्क में पहुंचता है और वहां से द्युलोक की ओर सुपर्ण बन कर उड़ान भरता है। सामान्य भाषा में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि—दिवस्पृष्ठमधितिष्ठन्ति चेतसा ऋ. ९।८३।२ अर्थात् उर्ध्वरेतस् पुरुष चित्त द्वारा द्युलोक के पृष्ठ पर जा अधिष्ठित होते हैं। इस प्रकार चित्त अर्थात् हृदयस्थली से द्युलोक तक चेतना का एक ही स्तर बन जाता है। इस प्रक्रिया से भी सोम का सीधा पान होता है। वस्तुत: यही वास्तविक सोमपान है। इसी सोमपान का विधान निम्न मन्त्र में हुआ है —

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्नतस्याश्नाति पार्थिव: ।।
अथर्व. १४।१।३

अर्थात् साधारण जन-ओषधियां घोटते पीसते और पान कर यह समझते हैं कि हमने सोमपान कर लिया। परन्तु ब्रह्मवेत्ता लोग जिस सोम को जानते तथा पान करते हैं उसका पार्थिव भोगों में रमने वाला व्यक्ति भक्षण नहीं कर सकता।

इस प्रकार द्विविधरूप में मनुष्य सोम का पान कर सकता है। हमने यहां संक्षेप में सोमपान पर

विचार किया । इससे अधिक विस्तार से हमने गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित 'आत्म-समर्पण नामक पुस्तक में विवेचन किया है ।

वायु द्वारा सोमपान--

इस ब्रह्माण्ड में जितनी भी क्रियायें वा प्राणन क्रियायें होरही हैं वे सब वायु पर आश्रित हैं । हमारे शरीर की समग्र गति, प्रगति तथा अंगों और नस-नाड़ियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतियां सब प्राणवायु पर ही आश्रित हैं । जिस अंग वा उपांग में प्राणवायु नहीं पहुंचती वह निष्क्रिय, दुर्गन्धित, मृत वा शुष्क होजाता है । प्राणवायु में ही वस्तु के अणु रेणु को पृथक् करने वा संयुक्त करने की शक्ति होती है । कहा भी है "अयं वै वायुर्योऽयं पवत एष वा इद सर्व विविनक्ति यदिदं किं च विविच्यते" श. प. १।१।४।२२ अर्थात् यह पवनकर्ता वायु ही जगत् में सबको विविक्त वा पृथक् करता है । यह प्राणवायु ही अब अंगों के पास रसरूपी हव्य का वहन करके लेजाता है । कहा भी है "वायुर्वै तर्णिर्हव्यवाड्वायुर्देवेभ्यो हव्यं वहति" ऐ. ब्रा. २।३४। यह वायु ही मन का रूप धारण कर हमारे हृदय प्रदेश के दक्षिण भाग में स्थित है । अतः जितने भी मन के कार्य हैं अन्ततोगत्वा वे सब वायु के ही कार्य हैं । पुरुष नाम से प्रसिद्ध यह मनुष्य प्राणवायु के ही कारण स्वसत्ता को धारण किए हुए हैं । "योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरिशेते तस्मात् पुरुषः" श. प. १३।६।२।१ निम्न श्लोक में वायु के स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट रूप में दर्शाया है ।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ।।

ऋग्वेद १म मंडल २य सूक्त के प्रथम तीन ऋचाओं द्वारा वायु को सोमपान कराया गया है । यह प्राणवायु सोम से सम्पर्क कर उसे शुद्ध व पवित्र करती है । शुद्ध और पवित्र होकर ये सोम इन्द्रियों में क्रियमान सूक्ष्म प्राणों को सक्रिय करते हैं जिससे कि दिव्य ज्ञान व दिव्यशक्ति का उद्बोधन होता है । क्योंकि रयि का चेतनता और ज्ञानरूप में परिणत होना सोम के अधीन है । "रयिं कृण्वन्ति चेतनम्" इस चेतनता को उद्बोधन करना और सक्रिय करना वायु के आधीन है क्योंकि सब गतियों वा क्रियाओं का मूल कारण यह वायु ही है । जब इन्द्रिय शक्ति सक्रिय होती है तब सोम अर्थात् इन्द्रिय-रस पर प्रहार होता है, इससे सोम में टूट-फूट होती है वह फिर ऐन्द्रियिकमल रूप में बाहिर प्रकट होता है । इसी तथ्य को श. प. ४।१।३ में आलंकारिक-भाषा में इस प्रकार कहा है कि इन्द्र ने वृत्र (सोमावरण) पर वज्र का प्रहार किया, वज्र के प्रहार से जो सोमावरण विनष्ट हुआ वह मलरूप में दुर्गन्ध युक्त हुआ, अब वह इन्द्रियों के भक्षण के योग्य तथा ऐन्द्रियिक यज्ञों में आहुति रूप में पड़ने के योग्य न रहा । कहा भी है "स नालमाहुत्या आस नालं भक्षाय श. प. ४।१।३।६ देवों (इन्द्रियों) ने वायु से कहा कि इस मल रूप सोम को स्वच्छ करो जिससे कि यह हमारे भक्षण के योग्य बने (इयं न स्वदयेति) सोम को आहुति व भक्षणयोग्य प्राणायाम आदि द्वारा बनाया जा सकता है । इस दुर्गन्ध को कुणपगन्ध (मुर्दे की दुर्गन्ध) के तुल्य कहा है । दुष्ट वीर्य में भी ऐसी गन्ध होती है । मुर्दे की गन्ध के कारण क्या इस दोषबहुल वीर्यरूपी सोम को बाहिर फेंक दें । शास्त्रकार कहते हैं कि नहीं 'ना एवं निष्ठीवेत्' अर्थात् वीर्य का निष्ठीवन न करे । आगे कहा—'तस्माद् यद्यप्यासक्त इव मन्येताभिवातं परीयात्" यदि मनुष्य अपने को आसक्त समझे तो उस समय प्राणायामादि द्वारा आसवित को रोक दें । 'अभिवातं परीयात्' का यही भाव है । क्योंकि

सोम श्री है और पाप्मा दुर्विचार आदि यक्ष्म (व्याधि) है। जब मनुष्य में सोमरूपी श्री की वृद्धि होती है तब पाप्मा उसे छोड़कर चले जाते हैं "श्रीर्वैसोमः पाप्मा यक्ष्मःस यथा श्रेयस्यायति पापीयान् प्रत्यवरोहेदेवं हास्माद् यक्ष्मः प्रत्ययरोहति" श.प. ४।१।३।९ अथेतरं वायुर्व्यवात् तदस्वदयत्ततोऽलमाहुत्याआसालं भक्षाय" वायु सोम में प्रविष्ट हो उसके मल भाग को भस्म कर देती है। तब वह स्वादिष्ट हो जाता है यह वीर्य (सोम) को पवित्र करने का एक उपाय बताया है।

सोमपान में इन्द्र का तुरीय भाग––

ऋग्वेद १म मण्डल के इन २य तथा ३य सूक्तों में वायु आदि देवताओं को जिस क्रम से सोम पान कराया गया है उसका रहस्य स्पष्ट हो जाये तो हमें यह भी ज्ञात हो सकता है कि वेदमन्त्रों व सूक्तों का वेदों में जो क्रम रखा गया है वह निष्प्रयोजन नहीं है। इसकी कुछ काल्पनिक विवेचना पूर्व में की जा चुकी है। यहां ऐतरेय ब्राह्मण के कथानक द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है कि इन्द्र को सोम का तुरीय भाग क्यों मिला ? ऐ. ब्रा. २।२५ में आता है कि "सोम राजा का सर्वप्रथम पान कौन करे इस सम्बन्ध में देवताओं में विवाद उठ खड़ा हुआ। जब उनमें कोई समझौता न हुआ तो वे आजि-धावन के लिए तैय्यार हुए। आजि-धावन में वायु जीत गया। उसके बाद इन्द्र पहुंचा तदनन्तर एक साथ मित्रावरुणौ और फिर एक साथ ही अश्विनौ पहुंचे।

अतः सर्वप्रथम वायु ने सोमपान किया। इसी दृष्टि से २य सूक्त में सोमपान सम्बन्धी वायु देवता के मन्त्रों को सर्वप्रथम स्थान मिला है। इन्द्र ने सोचा कि वायु जीत गया है अतः इसकी अनुनय विनय करते हैं। इन्द्र ने सोम पान के लिए वायु से अनेक बार प्रार्थना की। तृतीय प्रार्थना पर वायु ने सोम का तुरीय भाग (चौथा हिस्सा) इन्द्र को देना स्वीकार किया। इसीलिए वहां आता है कि "तुरीयभागिन्द्रोऽभवत् त्रिभाग् वायुः"

आगे यह भी कहा है कि नियुत्वान् इन्द्र सारथिः' ऋ. ४।४६।२ वायु की गति नियत है क्योंकि इसका सारथि इन्द्र है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वायु को नियन्त्रित करना, इधर-उधर लेजाना इन्द्र का काम है। परन्तु प्रश्न यह है कि इन्द्र को सोम का ४र्थ भाग क्यों मिला ? इसका रहस्य वाक् की उत्पत्ति में निहित है।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि शास्त्रों में ऐन्द्रवायव ग्रह से वाक् का ग्रहण किया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्र और वायु इन दोनों के साहचर्य से वाक् की उत्पत्ति होती है। वायु ध्वनि का रूप धारण करती है और इन्द्र उस ध्वनि को क, च, ट, त, प आदि वर्णों में विभक्त करता है। कहा भी है ––

स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते
वाक्यपदीय

वायुः खात् शब्दस्तत्–प्रातिशाख्य।

अब प्रश्न यह है कि इस वाक् की उत्पत्ति में ४भाग कौन से हैं। तैत्तिरीय आदि संहिताओं में तीन ही भाग माने हैं। दूसरी दृष्टि से परा पश्यन्ती मध्यमा और बैखरी के कारण वाक् के चार भाग भी हो सकते हैं। इसी कारण ऐन्द्रवायव ग्रह के प्रकरण में शतपथ ब्राह्मण ने चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' यह मन्त्र उद्धृत किया है इनमें परा परयन्ती और मध्यमा वाक् वायु रूप ही है चतुर्थ बैखरी वाक् ध्वनिरूपहोती है और यही क,च,ट,त आदि वर्णों में विभक्त होती है। इसी दृष्टि से कहा कि "यद्वै

चतुर्थं तत्तुरीय तत एव ऐन्द्रतुरीयोग्रहोऽभवत्" श. प. ४।१।३।१४ तैत्तिरीयसंहिता आदि में वाक् के तीन विभाग और ही दृष्टि से किए हैं, वहां आता है–"देवों१ ने इन्द्र से कहा कि हमारी वाणी को विभक्त करो तब इन्द्र ने देवों से वर मांगा कि सोमपान में वायु के साथ मेरा भी ग्रहण किया जाये। देवों के तथास्तु कहने पर इन्द्र ने अनिरुक्त वाक् को मध्य से विभक्त कर दिया इस प्रकार दो भाग वायु के तथा एक भाग इन्द्र का हुआ।

इसी तथ्य को निम्न शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है 'तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका विपिपातानुघोषम्।'

अर्थात् तीन वाणियां मनुष्य के अन्दर निहित हैं उनमें एक घोष अर्थात् ध्वनियुक्त हो जाती है।

इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता आदि शाखा-संहिताओं में वाणी के परा रूप का ग्रहण न कर अवशिष्ट तीन रूपों के आधार पर इन्द्र वायु देवता के वाक्ग्रह पर विचार किया गया प्रतीत होता है।

इसी दृष्टि से हमें "नाभिस्थः प्राणपवनः आदि श्लोकों की व्याख्या करनी चाहिये।

ऋग्वेद १म मण्डल के २य, ३य सूक्तों के एतरेय ब्राह्मणान्तर्गत व्याख्यान में जो हमें सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण तथ्य प्रतीत होता है उस पर भी हम दो एक शब्द यहां लिख देना उचित समझते हैं। वह यह है कि मन्त्रों में महान् शक्ति होती है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इन मन्त्रों के प्रयोक्ता पुरोहितों में दिव्य शक्ति होती थी। वे शक्तिहीन कर्मकाण्ड कराने वाले नहीं होते थे। इसी दृष्टि से हम कर्मकाण्ड को विज्ञान काण्ड मानते हैं, क्योंकि समय के फेर से कर्मकाण्ड अपने असली अर्थ को छोड़ बैठा है।

मन्त्र में शक्ति––

ऐतरेय १ब्राह्मण में आता है कि होता प्र उ ग शस्त्र के सामर्थ्य से अर्थात् मन्त्रबल से यजमान का अनिष्ट अथवा इष्ट करने में समर्थ होता है।

उसका उपाय यह बताया कि यदि यजमान को प्राण से वियुक्त करना चाहता है तो वायु२ देवताक ऋचा में से किसी एक ऋचा को अथवा उसके किसी अंश का न पढ़े। इससे वह यजमान प्राणों से वियुक्त हो जायेगा। इसी प्रकार चक्षु श्रोत्र सम्बन्धी ऋचाओं में से किसी एक के व्यामोहन से ये इन्द्रियां नष्ट हो जायेंगी।

और इसके विपरीत जिस यजमान के सम्बन्ध में यह चाहे कि वह सब३ अंगों व समग्र देह से पूर्णावयव व समृद्धियुक्त हो तो सम्पूर्ण ऋचाओं का याथातथ

---

१. ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीद् वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तमिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते तस्मात् सकृदिन्द्राय मध्यतो गृह्यते द्विर्वायवे द्वौ हि स वरावृणीत। तै.सं.६।४।७

१. किं स यजमानस्य पाप भद्रमाद्रियेतेति ह स्माह योऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं यथा कामयतेतथा कुर्यात्॥" ऐ.ब्रा. ३।३

२. "यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेत् ऋचं वा पदं वाऽतीयात् तल्लुब्धं प्राणेनैवैनं तद्व्यर्धयति" ऐ. ब्रा. ३।३

३. यमु कामयेत सर्वेणात्मना समर्धयानीत्येतदेवास्य यथापूर्वमृजुक्लृप्तं शंसेत् सर्वै रेवैनं तदंगै सर्वेणात्मना समर्धयति" ऐ ब्रा. ३।३

हम रात-दिन मन्त्रों को घोकते हैं प्रतिदिन सन्ध्या व यज्ञ करते हैं परन्तु हमारे में वह शक्ति व सामर्थ्य नहीं उत्पन्न हुए जिससे कि मन्त्र पाठ से हम दूसरे का इष्ट और अनिष्ट कर सकें। उपर्युक्त शक्ति और सामर्थ्य वाले व्यक्ति ही वेदों का सही प्रचार कर सकते हैं हम जैसे भोगविलासी तथा दोषबहुल व्यक्ति नहीं।

इस प्रकार अभी तक हमने ऋग्वेद के १म मण्डल के २य सूक्त के अर्थ करने के लिए कर्मकाण्ड की दृष्टि से विनियुक्त याज्ञिक परिभाषाओं का अध्यात्म की दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया। संक्षेप में वे इस प्रकार हुई—

प्रउग— शरीर रूपी शकट का मस्तिष्क से लेकर नाभि तक का समग्र भाग—

शस्त्र— ऋचा द्वारा शंसन तीक्ष्णीकरण।

स्तोत्र— साम द्वारा स्तवन।

ग्रह— प्राणों व इन्द्रिय आदियों के अपने स्थान व पात्र जिनमें ऐन्द्रियिक रस रूपी सोम व इन्द्रिय सन्निहित हैं। इनका यजुर्मन्त्रों से ग्रहण।

उक्थ— मन्त्र बल से प्राणों व शक्तियों का उत्थान होना, आविर्भूत होना व उन्नत और दिव्य बनना। इस प्रकार उपर्युक्त विनियोगों के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि इस २य सूक्त के वायुदेवताक तीन मन्त्रों को प्राणवायु में घटाना है इन्द्र+वायु के मन्त्रों को वाक् में तथा मित्र और वरुण सम्बन्धी मन्त्रों को चक्षु तथा मन में।

ऋ. १म २ सूक्त

मधुच्छन्दावैश्वामित्रः। १-३ वायुः ४-६ इन्द्रवायू ७-९ मित्रावरुणौ। गायत्री।

ओ३म् वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥१॥

हे ब्रह्माण्ड व्यापी प्राण! तू दर्शनीय है मेरे अन्दर आ। प्रभूत मात्रा में ये सोम तैय्यार है उनका तू पान कर और मेरे आह्वान को सुन।

अग्नि वायु आदि ये सब नाम भगवान् के हैं अतः मन्त्रों की अन्तिम चरितार्थता भगवान् में ही है (तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायु०)। परन्तु जो उसकी शक्ति वायु रूप में ब्रह्माण्ड में अभिव्याप्त है वही शरीर में प्राणात्मना प्राणन क्रिया कर रहा है। वायु को मन्त्र में 'दर्शत' दर्शनीय कहा गया है पर वायु अरूपी है रूपवान् का दर्शन होता है अतः उसका दर्शन कैसा? इससे यह ध्वनित होता है कि यह मन्त्र योग की उस उच्च भूमिका की ओर इंगित कर रहा है जब मनुष्य को प्रातिभ दर्शन होता है अथवा "प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्" आदि योग सूत्र के आधार पर दिव्य दृष्टि उद्बुद्ध होकर वायु, तन्मात्रा व प्राणादि का दर्शन करती है।

अरंकृताः—'अरंकृता' पद की व्याख्या ऐ. आ. १।१।४ में निम्न प्रकार दी गई है। "वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृता इत्येतद्वा अहररं यजमानाय च देवेभ्यश्च। अरंहास्मा एतदहर्भवति य एवं वेद" अर्थात् यजमान तथा देवों के लिए यह अहन् अरं—अलंभवति पर्याप्त व प्रभूत मात्रा में होता है। अहन् ज्योति व प्रकाश का प्रतीक है इस अवस्था में जो ज्योति पैदा होती है उससे देव प्रकाशित हो जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं और यजमान ज्योतिर्मय मार्ग का अनुसरण करने लगता है। और दूसरे आभ्यन्तर नाड़ीचक्र में प्रवहमान सोम तथा दिव्य शक्ति-केन्द्रों में विद्यमान सोम का सम्पर्क पाकर हमारी यह प्राणवायु ब्रह्माण्ड व्यापिनी होजाती है।

प्राणों द्वारा आह्वान सुनने का तात्पर्य यह है कि ध्यान करते ही वे तत्स्थान में पहुंचकर सक्रिय हो जायें ।

ओ३म् वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुतसोमा अहर्विदः । २।

हे प्राणवायो ! तुम्हें लक्ष्य करके जिन्होंने सोम सुत कर लिया है तथा अहन्–ज्योति जिन्हें प्राप्त हो गई है ऐसे ये स्तोता उक्थ साधनों से तुम्हारी स्तुति करते हैं ।

जरिता––वह स्तोता है जिसमें देवता की प्राप्ति व भक्ति में अग्नि––जलन पैदा हो गई है । यह जरण ही जलन व अग्नि है । जिस समय इस जरिता अवस्था में पहुंचे भक्त के हृदय प्रदेश से ऊर्ध्व को श्वास निकलता है तब उस श्वास पर आरूढ हो देवता का स्तवन हो रहा होता है । यही उक्थ––– उत्थान का साधन है ।

अहर्विदः–अहन् की प्राप्ति (विद्लृलाभे) व उसका ज्ञान (विद्ज्ञाने) इस तथ्य को दर्शाता है कि अहन् से सामान्यदिन का ग्रहण नहीं करना है । सामान्य दिन को तो सभी जानते हैं व प्राप्त होते हैं अतः ये भिन्न २ योगभूमिओं के प्रकाश हैं, ज्योतिष्पुञ्ज हैं ।

सुतसोमाः–सुतसोम व्यक्ति वे हैं जिन्होंने सोम का सवन कर लिया है, सोम को मिश्रण से पृथक् कर लिया है। शक्ति के केन्द्रों में निचोड़ लिया है ।

सोम सुत कब होता है, इस सम्बन्ध में शां. ब्रा. १३।४ में कहा गया है कि जब सोम के दसों अंशु परस्पर संगत व समन्वित होते हैं तब सोम सुत हुआ है ऐसा समझना चाहिये । कहा भी है––अथ सोम इति वै पशुमवोचामैवं पुरोडाशान् दशान्वा एते सोमांशवः प्रत्नोऽशुर्यमेतमभिपुण्वन्ति तृप्तोंशुरापो रसोंशुर्व्रीहि वृषोंशुर्यवः शुक्रोंशुः पयोजीवोंशुः पशुरमृतोंशुर्हिरण्यमृगंशुर्यजुरंशुः सामांशुरित्येते वा उ दश सोमांशवो यदा वा एते सर्वेसंगच्छन्तेऽथ सोमोऽथमुतः । शा.ब्रा. १३।४ ।

यह सोम पशु है । इसी प्रकार दश पुरोडाशों को भी हम पशु कहते हैं । ये दस सोमें के अंशु कहलाते हैं । जो कि निम्न प्रकार है ।

अंशु २य नाम

१. प्रत्न–तृप्त इसको अभिषुत किया जाता है, यह सबका मूल है ।
२. आपः– रस
३. व्रीहिः– वृष
४. यवः– शुक्र
५. पयः– जीव
६. पशुः– अमृत
७. हिरण्यम्– ऋक् यजुः साम

जब इन दसों सोम के अंशुओं में परस्पर समन्वय संगति व अनुकूलता आदि पैदा हो जाती है तब यह कहा जा सकता है कि सोम सुत हो गया । ये सोमांशु क्या है इनका स्वरूप क्या है, मानव शरीर में ये कहां २ होते हैं इत्यादि विषयों का विवेचन हम अन्यत्र करने का प्रयत्न करेंगे । जो व्यक्ति इन दसों सोमांशुओं में संगति (Harmony) पैदा कर लेते हैं उन्हें सुत सोम कहा जाता है ।

ओ३म् वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति
दाशुषे । उरूची सोमपीतये ।।३।।

हे वायो ! तुम्हारी प्रकृष्ट रूप से सम्पर्क करती हुई विस्तृत व व्यापक धेना दाश्वान् के पास पहुंचती है, किसलिए ? सोमपान के लिए।

वायु रस का शोषण करने वाली है जहां भी रस व आर्द्रता है उसे सुखाती है। परन्तु साथ में उस रस का विश्लेषण विवेचन, अणुरेणु का पार्थक्य कर देती है, तीसरा उसे शुद्ध व पवित्र भी करती है। हमारे शरीर में भी प्राणवायु यही कार्य करती है और हमारा रस रक्त आदि शुद्ध पवित्र होता रहता है। सोम की पवित्रता भी वायु के पान करने पर निर्भर है। वायु द्वारा पवित्र यह सोम दिव्य ज्ञान व दिव्य वाक् का उद्बोधन कराता है। अतः दिव्यवाक् का उद्बोधन कराने के कारण वायु की धेना (धेट् पाने दधातेर्वा) सोमपान की शक्ति को ही वाक्' कह दिया गया है। जिस समय वायु द्वारा सोम शुद्ध पवित्र होजाता है तब सप्त द्वारों में बिखरी वाक् (सप्तद्वारावकीर्णां न वाचमनृतां-वदेत्-मनु) धाराओं में चहुं ओर फूट पड़ती है। इसी दृष्टि से मन्त्रों में कहा—सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना' ऋ. ४।५८।६ व्यस्य धारा असृजत् वि धेनाः" ऋ. ३।१।९।

इस प्रकार प्रथम तीन ऋचाओं से प्राण वायु द्वारा सोम पान का वर्णन हुआ। प्राणवायु के सोम-पान करने से प्रथम तो सोम पवित्र व शुद्ध होता है और दूसरे प्राण प्रवृद्ध व शक्तिशाली होते हैं।

अब अगली तृच में इन्द्र और वायु द्वार सोमपान का वर्णन हुआ है। जिस प्रकार प्रारम्भ में शिशु के प्राण ही सक्रिय होते हैं, वाक् आदि अन्य इन्द्रियां एक प्रकार से प्रसुप्त रहती हैं, ज्यों २ शिशु प्रवृद्ध होता जाता है त्यों२सर्वप्रथम वाक् उत्पत्ति का प्रयत्न किया जाता है उसे बोलना सिखाया जाता है और ब्रह्मचर्यकाल में वाक् का ही प्राधान्य रहता है इसी प्रकार अध्यात्म सम्बन्धी उत्पत्ति में भी मनुष्य की सर्वप्रथम वाक् के परिमार्जन, विस्तार तथा दिव्यता की उत्पत्ति की जाती है। अतः इस इन्द्र वायु तृच में वाक् और प्राण के सहचार से सोमपान का वर्णन हुआ है। अब हम मन्त्रों का अर्थप्रदर्शित करते हैं।

ओ३म् इन्द्रवायू इमे सुता उपप्रयोभिरागतम्।
इन्दवोवामुशन्ति हि ॥४॥

हे इन्द्र और वायु ! ये सोम सुत हुए हैं तुम दोनों 'प्रयः' नामक अन्नों के साथ आओ, तुम दोनों को इन्दु चाहते हैं।

इस उपर्युक्त मन्त्र में इन्द्र और वायु का सहचार है। इन्द्र दिव्य मन है और वायु प्राणाधिपति है। इन दोनों के सर्वोत्तम सहचार से दिव्यवाक् का प्रकटन होता है। यहां सोमपान में इन्द्र नेतृत्व कर रहा है क्योंकि "इन्द्रवायू" में इन्द्र पद का प्रथम प्रयोग हुआ है। वैसे भी सोमपान करने वालों में इन्द्र प्रमुख है। ये इन्द्र और वायु "प्रयः" नामक अन्नों के द्वारा मनुष्य के पास पहुचते हैं। अब विचारणीय यह है कि 'प्रयः' नामक अन्न क्या है ?

प्रयः—प्रयः शब्द प्रीञ् प्रीणने धातु से निष्पन्न किया जाता है। अर्थात् इसके भक्षण से मनुष्य में प्रीणन व तृप्ति होती है। वस्तुतः प्रीणन व तृप्ति तो इसका स्थूलार्थ है क्योंकि सभी अन्न मनुष्य की तृप्ति करने वाले होते हैं। परन्तु वेदमन्त्रों में इस 'प्रयः' शब्द के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि प्रयः नामक अन्न स्थूल भौतिक अन्न नहीं है। वेदों में आता है— आ देवेषु प्रयो दधत्" ऋ. ४।१५।२

यह प्रयः' नामक अन्न देवों में विराजमान होता है। 'तत् तु प्रयः प्रत्न थाते शुशुक्वनम्"

ऋ. १।१३२।३

वह तेरा प्रय नामक अन्न पुरातन है तथा अत्यन्त देदीप्यमान है (शुशुक्वनम्—शुच् दीप्तौ)

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवान् जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः। ऋ. १।७१।३

विषयतृष्णा से रहित ये व्यापकवृत्तियां प्रय नामक अन्न द्वारा देवों के जन्म व उत्पत्ति को प्रवृद्ध करती हुई अग्नि के सम्मुख पहुंचती हैं। यहां 'देवान् जन्म' में षष्ठ्यर्थ में द्वितीया है। इसी प्रकार 'प्रयः' नामक अन्न के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने वाली और भी ऋचायें हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि ये 'प्रयः' नामक अन्न स्थूल भौतिक अन्न नहीं है। यह एक सूक्ष्म अन्न है जो कि आचार्य व श्रेष्ठ गुरुओं व यौगिक पुरुषों द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके भक्षण से विषय वासना समाप्त होजाती है। मनुष्य व शिष्य सब प्रकार से नित्य तृप्त बन जाता है। अतः 'प्रयस्' नित्यतृप्त करने वाला अन्न है।

इन्दु—यहां हमें इन्दु शब्द पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये 'इन्दु' शब्द को उन्दी क्लेदने धातु से बनाया जाता है। क्लेदन का तात्पर्य है गीला करना, तर करना, शुष्कता को समाप्त करना। यह सोम का एक विशेष गुण है। इससे अग्नि तत्त्व कम होकर सोम तत्त्व की अभिवृद्धि होती है इन इन्दुओं से आप्लावित हो इन्द्र (मन) तथा वायु (प्राणबल) में सोम तत्त्व का प्रवेश होजाता है। इससे मनुष्य में ढीठता, उद्धतपना, शुष्कता वा क्रूरता आदि समाप्त हो जाते हैं। आजकल शिक्षा में प्रमः नामक अन्न तथा इन्दुओं का अभाव है। अतः विद्यार्थिवर्ग में अनुशासनहीनता, उद्दण्डता व उग्रता आदि दोष दृष्टिगोचर होते हैं। गुरुओं में ही इनका अभाव है शिष्यों में कहां से आवे।

ओ३म् वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनी-
वसू। तावायातमुपद्रवत् ।५।

हे वायु और इन्द्र! तुम वेगयुक्त ऐश्वर्यों वाले अभिषुत सोमांशुओं को जानो। और शीघ्र हमारे पास आओ।

उपर्युक्त मन्त्र में वायु और इन्द्र को 'वाजिनीवसू' कहा गया है, अर्थात् वायु और इन्द्र में सोमपान के प्रभाव से वाज-अर्थात् वेग उत्पन्न होगया है। सोमपान से प्रत्येक मनुष्य के प्राणों तथा मन में वेग व बल की उत्पत्ति होजाती है।

इस अवस्था में मनुष्य में सोम सुत होरहा है जब यह ज्ञान पैदा होजाता है तब मन व प्राण की गति स्वभावतः दिव्यता की ओर होती है। ऐसे अनेकों व्यक्ति मिल जायेंगे जिन के प्राण तथा मन दोनों बलशाली हों, पर साथ में क्रूर हों, उग्र हों तथा बहिर्मुखी हों। परन्तु सोमपान करने वाले प्राण तथा मन वेग व बलयुक्त तो होंगे पर क्रूर व उग्र न होंगे—और साथ ही अन्तर्मुखी होंगे—'तावायातमुपद्रवत्' का यही भाव है। क्योंकि सामान्य रूप में प्राण व मन मनुष्य के अन्दर ही है फिर उन्हें अपने पास बुलाना और दौड़कर आवे यह कहना कहां तक संगत है? ब्राह्मणग्रन्थ इन्द्र और वायु से वाक् और प्राण का ग्रहण करते हैं, उनका वेग व बल युक्त होना दौड़कर चले आवें यह कहना इसका तात्पर्य "बले हस्तिबलादीनि" आदि योग-दर्शन की विभूतिपाद की मन, प्राण तथा वाक् सम्बन्धी सिद्धियां से है।

ओ३म् वायविन्द्रश्च सुन्वत आयातमुप निष्कृ-
तम्। मक्ष्वित्था धिया नरा ।।६।

हे वायु और इन्द्र! तुम दोनों सोम सवन करने वाले मुझ यजमान द्वारा पूर्णरूप से संस्कृत व सिद्ध किए हुए सोम के पान के लिए शीघ्र ही सत्य बुद्धि से आओ।

इस मन्त्र में यह एक विशिष्ट तथ्य दर्शाया गया है कि इन्द्र और वायु सोमपान के लिए सत्य-

बुद्धि को भी साथ में लेते हैं। इस प्रकार मनुष्य में प्राण शक्ति, मन व वाक् शक्ति तथा बुद्धिशक्ति तीनों दिव्य बनती हैं।

अगली तीन ऋचायें (७-९) मित्रावरुण सम्बन्धी हैं। मित्रावरुणौ पर ब्राह्मण में कई क्षेत्रों व कई दृष्टियों से विचार किया है। ऐतरेय ब्राह्मण में मैत्रावरुण का ग्रह चक्षु है अर्थात् मित्र दृष्टि तथा वरुणदृष्टि से मन्त्रार्थ देखा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में ऋतु और दक्ष को आधार मानकर ऋतु संकल्प तथा दक्षता अथवा ब्रह्मशक्ति तथा क्षत्र-शक्ति के आधार पर मन्त्रार्थ हो सकता है। इन तथ्यों को दृष्टि में रखकर हम यहां मन्त्रार्थ दिखाते हैं।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता ।७।

मैं पवित्र बल व कौशल वाले मित्र का आह्वान करता हूं, हिंसक व शत्रु का विनाश करने वाले वरुण को बुलाता हूं। ये दोनों मेरी धी, बुद्धि को दीप्ति युक्त करते हैं।

मित्र देवता सबका मित्र है, यह निर्माण करता है विनाश नहीं। वरुण शत्रु व विजातीय तत्त्वों का नष्ट करने वाला है। अमुक मन्त्र में इन दोनों के समन्वय की ओर निर्देश किया है। इन दोनों का इस प्रकार का समन्वय होना चाहिये कि जिससे इन दोनों के सहचार से बुद्धि देदीप्यमान बने। हमारी स्थूल से लेकर सूक्ष्म बौद्धिक दृष्टि सत्यासत्य व अच्छे बुरे का विवेक कर सके।

घृताची—घृतमञ्चतीति घृ क्षरणदीप्त्योः के आधार पर वह बुद्धि हो सकती है जिससे दीप्ति क्षरित हो। प्रकाशित बुद्धि का यहां ग्रहण किया गया है।

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ।।८।

ऋत में बढ़ने वाले अथवा ऋत को बढ़ाने वाले और ऋत का स्पर्श किये हुए हे मित्रावरुणौ तुम दोनों ऋत के द्वारा महान् संकल्प बल व कर्म को व्यापते हो।

मित्रावरुण को हम चाहे प्राण अपान मानें, क्रतु और दक्ष मानें या ब्रह्म व क्षत्र मानें पर ध्यान देने की बात यह है कि ये ऋत की कोटि के होने चाहियें। ऋत सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न सूक्ष्म तत्त्व है (ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो०) जो कि प्रदीप्त, जाज्वल्यमान सुवर्णमय ब्रह्माण्ड से उत्पन्न होता है। और जो कि निरन्तर गतिमय (ऋगतौ) तथा सुवर्णमय आभा लिए सूक्ष्मरूप होता है। इसी गतिमय सुवर्णीय तत्त्व में ये मित्रावरुण उत्पन्न होते हैं बढ़ते हैं और अपने चहुं ओर ऋत को लपेटे रहते हैं। अतः ऐसे ये मित्रावरुण जो क्रतुः कर्म करते हैं वह स्वभावतः दिव्य ही होगा। मनुष्य की बुद्धि जब ऋतम्भरा प्रज्ञा का रूप धारण करती है तब ये मित्रावरुण वहां सक्रिय होते हैं, इसी दृष्टि से 'धियं धृताचीं साधन्ता' का भाव ऋतम्भरा प्रज्ञा से है।

ओ३म् कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया
दक्षं दधाते अपसम् ।९।

क्रान्तदर्शी अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी, बहुत-प्रसिद्ध अथवा बहुतायतरूप में उत्पन्न और व्यापक निवास वाले ये मित्रावरुण हमारे अन्दर व्यापक कर्म के साधक दक्षता को धारण कराते हैं।

पूर्व के मन्त्र में मित्रावरुण को ऋतोत्पन्न व ऋत में बढ़ने वाले बताया गया है। यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि योग की परिभाषा में ऋत जहां भी पहुंचता है वहां क्रान्तदर्शिता व दिव्यज्ञान आदि

गुण धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। इसी दृष्टि से हमारे आन्तरिक मित्रावरुण में भी क्रान्तदर्शिता उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। इसीलिए मित्रावरुण का प्रथम विशेषण 'कवी' दिया गया है। यही ऐतरेय ब्राह्मण की मैत्रावरुणी चक्षु है। मित्रावरुण की क्रान्तदर्शिता का यह परिणाम होता है कि क्या निर्माण करना चाहिये क्या नहीं यह सूक्ष्मदृष्टि व दिव्यदृष्टि जागृत हो जाती है। इसी प्रकार वरुणशक्ति को किन २ विजातीय तत्त्वों को निकाल बाहिर करना चाहिये यह भेदक शक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है। स्थूलदृष्टि से जिनको हम अपना समझते हैं अपना प्रिय तथा हितकारी समझते हैं आवश्यक नहीं मित्रावरुण भी उन्हें वैसा ही समझें। अतीन्द्रियार्थदर्शी व भविष्य-द्रष्टाओं का पैमाना ही दूसरा होता है।

इस प्रकार १म मण्डल का यह द्वितीय सूक्त समाप्त हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर व उनके दृष्टिकोण से विशेषकर ऐतरेय ब्राह्मण की छाया में हमने कर्मकाण्ड सम्बन्धी अर्थप्रदर्शित किया। जिन विनियोगों को हम कर्मकाण्ड की कोटि में रखते हैं ब्राह्मणग्रन्थ उन्हें अध्यात्म क्षेत्र में शरीर में घटाते हैं। आजकल कर्मकाण्ड का एक विचित्र ही रूप सामने आता है जो कि प्राचीन ऋषिओं की दृष्टि में नहीं था, क्योंकि कर्मकाण्ड के साथ एक भ्रान्त रूप सम्बद्ध होगया है अतः हमें कर्मकाण्ड को विज्ञान काण्ड नामदेना चाहिये।

-क्रमशः

वेद और योग

श्री डा० मुंशीराम शर्मा आर्यनगर, कानपुर

योग वह सिद्धि है जो वियोग की अनुभूति द्वारा उद्योग के माध्यम से सिद्ध होती है। योग दो तत्वों का होता है। जिस योग की हम चर्चा करने चले हैं, वह आत्मा का परमात्मा से योग है। विश्व के साधकों में योग-साधना के जिन रूपों का प्रचलन रहा है, उन सबका एक मात्र उद्देश्य आत्म-परमात्मा-योग ही है। कैसी विचित्र स्थिति है कि जो देव सबमें रमा हुआ है, सबका नैदिष्ठ अर्थात् निकटतम है, वही सामान्य अवस्था में न दृष्ट होता है, न ग्रहीत। उसकी निकटतम अनुभूति जन्म-जन्मान्तर की कठोर साधना से ही सिद्ध हो पाती है। कृच्छ्र तप से घबड़ा कर योग का एक सहज मार्ग भी प्रचलित हुआ। सहजिया पथ वाले वैष्णव तथा बौद्ध दोनों ही गृहस्थ-धर्म का पालन किया करते थे। न उन्हें भगवा-वेश धारण करना था, और न संन्यास के दुरूह पथ पर ही चलना था। वैदिक पथ संन्यास की आज्ञा सबको नहीं देता। वैदिक पथ सहज भी है और कठोर भी। उसके द्वारा स्वीकृत वर्णाश्रम-मर्यादा स्वत: एक साधना है जो ब्रह्मचर्य द्वारा सभी वर्णों को गृहस्थ में ले जाकर सहज मार्ग द्वारा उन्नत करती है। श्रम को व्यापार में, व्यापार को बल में और बल को प्रकाश में परिणत करती हुई, वानप्रस्थ में विशेष तपश्चर्या कराती है। वानप्रस्थ की यह कठोर तपस्या ही साधक को इस योग्य बना पाती है कि वह संन्यास-आश्रम में प्रवेश करके यह कहने की शक्ति प्राप्त कर सके —"वित्तैषणा मया त्यक्ता पुत्रैषणा मया त्यक्ता, लोकेषणा मया त्यक्ता।"

मानव मात्र की यही त्रिविध कामनाएं हैं। उसे धन चाहिये, सन्तान चाहिये और यश चाहिये। सन्तान की इच्छा सभी को होती है, धन के बिना भी जीवन व्यापार सुख-साध्य नहीं बन पाता; परन्तु जिसे कीर्ति कहते हैं उसमें धन पीछे छूट जाता है और बल आगे आ जाता है। कीर्ति का किंचित अंश धन से भी उपलब्ध हो जाता है परन्तु कीर्ति का जो उदात्त सम्पादन शूर-वीरों द्वारा होता है, वह इतिहास के पृष्ठों पर चिर-काल के लिए अंकित हो जाता है। इससे भी बढ़कर वह कीर्ति है जो प्रकाश-पुंज मनीषियों, कवियों और दार्शनिकों को प्राप्त होती है। संन्यास में सांसारिक उपलब्धियों का चरम बिन्दु यह प्रकाश-जन्य यश भी परित्यक्त हो जाता है। संन्यासी एक ओर सामाजिक उपलब्धियों का परित्याग करता है, तो दूसरी ओर अपना न्यास सम्यक् रूप से उस परम देव के चरणों में कर देता है; अपने पन का ही परित्याग और परम प्रभु का वरण योग है। अथर्ववेद ने इन दो स्थितियों की ओर संकेत करते हुए कहा था—

"अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति।"

आत्मा को अपने समीप स्थित प्रकृति=प्रधान, सत्व या माया को छोड़ना है और अपने में रमे हुए परम देव को देख लेना है। यह दर्शन ही दोनों का योग कराने वाला है। प्रकृति के साथ आत्मा की अविशेष प्रतीति और प्रभु से विमुखता उसे दुःख भोग में आबद्ध करती है। ऋत के तन्तु से परिवीत आत्मा निकटतम होते हुए भी परमात्मा को नहीं देख पाती। चित्त-वृत्तियां उसे आशा-पाश में जकड़कर काम-जन्य अनेक सम-विषम रूपों में घुमाती हैं। ऋत के इस वितत तन्तु को चीर कर पार हो जाना सहज कार्य नहीं है। वैष्णवी भक्ति-पथ भी सहज मार्ग द्वारा जिसमें षोडशोपचार की वैधी भक्ति विहित है, साधक को अभ्यास-द्वारा भक्ति भावना

की ओर आकृष्ट कर लेता है, परन्तु इस मार्ग में भी वैराग्य की कठोरता तो है ही। और योग के अभ्यास और वैराग्य सभी साधनाओं में मान्य है। प्रभु की कृपा हो गई, तो कठोरपथ भी साधक के लिए सरल हो जाता है। फिर भी साधक को गन्तव्य तक पहुंचने के लिए भूत-जय, इन्द्रिय-जय और मनोजय तो करनी ही पड़ेगी। प्रकृति के पाश उसे बड़ी दूर तक जकड़े हुए हैं। इन सभी पाशों से मुक्ति पानी होगी। जिसे हम मोक्ष कहते हैं अथवा जिसे बौद्ध निर्वाण कहते हैं वह कथन मात्र से तो उपलब्ध नहीं है। कथनी के उपरान्त करनी भी आवश्यक है। ज्ञान और कर्म दोनों ही पथ-चीर्णता के लिए अनिवार्य हैं। वैदिक योग-पद्धति इन सभी साधनों की महत्ता का प्रतिपादन करती है।

जैसा लिख चुके हैं, योग के लिए वियोगानुभूति अपेक्षित है। वेद में कई स्थलों पर इस अनुभूति का मार्मिक उल्लेख पाया जाता है। निम्नांकित मंत्र पर विचार कीजिए––

"उत स्वया तन्वा सम्वदे तत् कदा नु अन्त र्वरुणे भुवानि। किम्मे हव्यम् अहृणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्।"

मैं अपने से ही पूछता हूं––मैं कब उस वरणीय वरुणदेवता के अन्तस्तल में प्रवेश कर पाऊंगा। क्या मेरे प्रभु मेरे इस समर्पण को प्रसन्न होकर स्वीकार करेंगे और क्या मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने प्रिय प्रभु के प्रिय दर्शन कर सकूंगा? एक और मन्त्र देखिए––"अपाम् मध्ये तस्थिवांसम् तृष्णा विदज्जरितारम् मृड़ा सुक्षत्र मृडय।" देव! तुम्हारे जैसे शीतल जल-सागर में रह कर भी मैं प्यास से मरा जा रहा हुं। देव, दया करो। मुझे सुखी करो। मेरी इस मिलन-पिपासा को शान्त करो। आप के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये।

'इस प्रकार के मिलनाकांक्षा–सम्बन्धी कई मन्त्र हमने 'भक्ति का विकास' शीर्षक ग्रन्थ में उद्धृत किए हैं। योग की यह भावना ही साधक को अपने इष्ट देव से मिलाने वाली है। नीचे हम साधना-पथ से सम्बन्धित कतिपय मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनमें योग शब्द का भी प्रयोग हुआ है। प्रभु जिस योग द्वारा प्राप्त होते हैं उसे वेद ने घीयोग नाम दिया है––

"यस्मादृते नसिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योग मिन्वति।"

विपश्चित वही व्यक्ति है जिसे हमने ऊपर प्रकाश-पुंज का नाम दिया है। विपश्चित का अर्थ है–विशेष ज्ञान-सम्पन्न विप्र। ज्ञानी ज्ञान-यज्ञ में निरत रहता है। साधना में जब तक हम घी, बुद्धि ज्ञान में प्रवेश नहीं करते, तब तक निम्न स्तरों में प्रभु के दर्शन दुर्लभ हैं। अन्धकार में वैसे भी कुछ दिखाई नहीं देता, अतः ज्ञान-रूपी प्रकाश की उपलब्धि करनी ही होती है। दूसरे शब्दों में मानव को ब्राह्मणत्व में प्रवेश करना ही पड़ेगा। इसी प्रकाश में उसे प्रकृत-पाश दिखाई देंगे और उनसे मुक्ति पाने की युक्ति भी सूझ सकेगी। अतः बुद्धि-योग प्रभु-मिलन की प्रथम सीढ़ी है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में बुद्धि को सत की ओर प्रेरित करने की ही प्रार्थना है। इस धी का ध्यान-धारणात्मक तेज ही परम देव के वरणीय तेज की ध्यान धारणा कर सकेगा। इस बुद्धि योग के लिए बुद्धि से नीचे के स्तरों को भी सम्हालना पड़ता है। वेद सबसे निम्नतम स्तर पर शरीर या काया के शोधन पर बल देता है। जिसका शरीर ही विकृत है, वह साधना सदैव अक्षम सिद्ध होगा। महर्षि पतन्जलि ने शरीर को दृश्य और आत्मा को द्रष्टा कहा है।

द्रष्टा शुद्ध होते हुए भी प्रत्यय के पीछे देखा करता है। यह प्रत्यय दृश्य का होता है। दृश्य प्रकाश-क्रिया-स्थिति शील है। प्रकाश में सत्, क्रिया में रज तथा स्थिति में तम की प्रधानता है। दृश्य में पंचभूतों के मिश्रण के साथ विशेष इन्द्रियां भी हैं। यह दृश्य अथवा शरीर आत्मा को भोग भोगने तथा अपवर्ग की साधना के लिए मिला है। पुण्य और अपुण्य कर्मों के भोग सुख-दु:खात्मक है, परन्तु परिणाम मे ताप और संस्कार जन्य दु:खों के कारण सुख भी दु:खात्मक है। अत: भोगों को त्याग भाव से भोगने में ही कल्याण है। पर शरीर मोक्ष का साधन भी है। अत: उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शरीर व्याधियों का मन्दिर होते हुए भी धर्म का प्रथम साधन है। इसके भू: भुव:, स्व: तम, रज, सत, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों परतों का संशोधन ही योग-मार्गी का कर्तव्य है। योगदर्शन में जो 'सत्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' कहा गया है उसमें यह संशोधन या शुद्धि सर्वप्रथम आती है।

बौद्धों के वज्रयान में निर्माणकाय पर अधिक बल दिया गया है। गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों ने वज्रकाय बनने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया था। रसेस्वर सम्प्रदाय पारद के प्रयोग द्वारा काया को दीर्घकाल तक स्थिर रखने का समर्थन करता है। उसने अभ्रक को रज तथा पारद को वीर्य कहा है। दोनों का ऊर्ध्वीकरण शरीर को स्वास्थ्य तथा दीर्घायु प्रदान करता है। प्रभु प्रदत्त यह पिंड यदि दीर्घ काल तक स्थिर रहता है, तो साधना के लिए अधिक अवसर प्राप्त हो जाता है। साधना निर्विघ्न चलती रहे, इसके लिये भी स्वस्थ शरीर की आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर में पंचभूतों की शुद्धि तथा इन्द्रियों की नीरोगता दोनों ही आती हैं। शुद्धि तथा नीरोगता के साथ आत्मवश्यता भी अपेक्षित है। आंखें नीरोग हैं। पर स्ववश नहीं है, तब भी साधना खण्डित ही रहेगी। वाममार्गियों की निन्दा इसी आत्मवश्यता के अभाव के कारण की गई।

वेद शरीर को पकाने का निर्देश देता है। कच्चा घड़ा जैसे जल को धारण नहीं कर सकता, पर पक जाने पर उसमें जल स्थित रहता है, वैसे ही जो शरीर आम अर्थात् कच्चा है, वह साधना के अयोग्य है, अमृतरसधारण में अशक्त है और उत्क्रमणशीलता से वंचित है। "अतप्ततनूर्नतदामो अश्नुते' कच्चा बिना तपा शरीर उस प्रभु को नहीं प्राप्त करा सकता जो शरीर-शरीर को सब ओर से व्याप्त किये है। परम देव परम पावन है। उसका सखा बनने के लिए हमें पावन बनना पड़ेगा। शुद्धके साथ शुद्ध ही संगति कर सकता है। वृत्र के वध में भी इन्द्र शुद्ध ही रहते हैं। भक्त को अपनाने में भी उनका पवित्र रूप ही बना रहता है। वे स्वभावत: शुद्ध हैं। ऐसे शुद्ध के समीप अशुद्ध जा ही नहीं सकता। साधक को इसी हेतु अपना अन्त:-बाह्य रूप शुद्ध करना पड़ता है। शुद्धि में ही शक्ति है। शुद्धि में ही दिव्यता है। साधक को इसी दिव्यता का साथी बनना है। इसी के चरणों में समर्पित होना है। प्रभु में दिव्यता ही दिव्यता है। अत: वैष्णव भक्त जो अपनी दिव्य भावमयी काया बनाते हैं, वह पार्थिवता में दिव्यता का ही प्रवेश करना है।

पंचभूतों में अग्नि का उत्क्रमण प्रख्यात है। शरीर के पकने में आग्नेयता का ही हाथ रहता है। इसके उपरान्त उसमें वायवीयता तथा कायाकाशीयता का प्रभाव आता है। इसके लिए प्राण की साधना अपेक्षित है। वेद ने और उसके पश्चात् उपनिषदों ने प्राण की महीयसी महिमा का गान

किया है। प्राण और अपान, श्वास तथा प्रश्वास नाम की प्राण की दो प्रसिद्ध गतियों को वेद भेषज का नाम देता है। एक दक्ष या बल का संचार करती है, तो दूसरी मल का अपनयन करती है। दोनों ही सुख तथा शान्ति (मयोभु तथा शंभु) का संचार करने वाली हैं। प्राण ही विराट है, देष्ट्री है, सूर्य, चन्द्र तथा प्रजापति है। प्राण की उपासना में सभी तल्लीन हैं। देव भी प्राण के आराधक हैं। प्राण समस्त जीवन और चेष्टाओं पर शासन करता है, प्राण अतन्द्रहै, जागरूक है, धीर है। मृत्यु पर उसका धनुष क्षिप्र गति से चलता है। जो मृत्यु मारने आती है वह अपना सा मुंह लिए खड़ी रह जाती है —नहीं, नहीं वह प्राण के वार से स्वयं आहत हो जाती है। प्राण जीवन को, मन को, विज्ञान को अपने साथ लेकर निश्चित स्थान पर चला जाता है। एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को अपना धाम बना लेता है। प्राण आत्मा की छाया है। वह अमर है। उसकी गति हितकर तथा रमणीय है। चातक जैसे स्वाति जल का आंकाक्षी होता है, वैसे ही सबकी मतियां प्राण की आकांक्षा किया करती हैं। वृत्र (वारक पाप) के आक्रमण से जब इन्द्रियां भयभीत होकर पलायन करने लगती हैं, तब प्राण ही सहायक बनता है और इन्द्रियों को भय से त्राण देता है।

हमारे शरीर में प्राण वाम तथा दक्षिण दो स्वरों में चलता है। दाहिने स्वर के साथ ऊष्मा, कर्तृत्व, उपाय आदि संलग्न हैं, वाम स्वर के साथ शीतलता, विश्राम तथा प्रज्ञा का सम्बन्ध है। एक को सूर्य, पिंगला, यमुना आदि कहा जाता है, दूसरे को चन्द्र, इडा, गंगा आदि। जब दोनों स्वर साम्यावस्था में रहते हैं, तब सुषुम्ना या सरस्वती का उदय माना जाता है। इन तथ्यों का विकास आगे हुआ, परन्तु वेद में मूल है। उसी प्रकाश में सबने आगे के मार्गों का दर्शन किया है।

पतंजलि के योग दर्शन में श्वास-प्रश्वास के गति-विच्छेद को, प्राणायाम की संज्ञा दी गई—जो बाह्यान्तर-स्तम्भ वृत्ति, देश-काल-संख्या से परिदृष्ट दीर्घ-सूक्ष्म तथा बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी नामों से चार प्रकार का है। प्राणायाम से प्रकाश का आवरण क्षीण होता है और धारणाओं में मन की योग्यता सिद्ध होती है। यह वर्णन ऋग्वेद ८-९६-७ तथा ५-५७-१ पर आधारित है। प्राण, अपान, व्यान, उदान नाम अथर्व ११-४; ११-७; १८-२-४६; ८-४-२६; १९-४४-४; ३-३१ यजु० ७-२७; १४-८; १७-१५; १८-२; २०-३४; २२-२३ २३-१८ आदि में आते हैं। अथर्व ११-४ पूरा प्राण सूक्त ही है। इसमें आते हुए, जाते हुए, ठहरे हुए, बैठे हुए पराचीन, प्रतीचीन, सूर्य रूप, चन्द्ररूप (जो आगे चल कर हठयोग द्वारा स्वीकृत हुए), प्रजापति रूप, वातरूप, मातरिश्वारूप, गर्भ में प्राणापान क्रिया करते हुए पुरुष का प्राण-प्रेरणा से जन्म, विराट रूप, देष्ट्री रूप, पिता रूप, प्रिया तथा प्रेयसी रूप, भेषज रूप, ऊर्ध्व जागरित रूप आदि अनेक प्राण-रूपों का वर्णन हुआ है। इस सूक्त के निम्नांकित दो मन्त्र विशेषतया ध्यातव्य है —

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
तदंग स तमुत्खिदेत् नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री-
नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥२१॥

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्रपुरो निपश्चा। अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं
कतमः स केतुः ॥२२॥

प्राण हंस है जो हृदय सलिल से ऊपर चलता हुआ अपना एक पैर वहीं जमाये रहता है। उसे

उखाड़ता नहीं। यदि कहीं पैर को उखाड़ ले तो न आज का पता चले, न कल का, न रात्रि का पता चले, न दिन का गौर न उषा का ही कभी उदय हो।

आठ चक्रों वाला, सहस्त्रों अक्षरों वाला, परन्तु एक परिधि वाला यह प्राण प्रकृष्ट रूप से आगे जाता है और फिर पीछे भी जाता है। यह अपने आधे भाग से समस्त भुवन को उत्पन्न करता है, परन्तु इसके आधे भाग का कोई चिन्ह या ज्ञान नहीं है।

नौ द्वारों तथा आठ चक्रों वाली अयोध्या रूपी देह का वर्णन भी अथर्व १०-२-३१ में आया है। हठ योग में इन आठ चक्रों का आगे चल कर कुण्डलिनी जागरण में विशेष महत्व प्रकट हुआ। व्याकरण के स्फोटवाद के साथ परा से वैखरी तक चार वाणियों का भी मूलाधार चक्र से लेकर विशुद्धि चक्र तक निरूपण किया गया। मूलाधार में परा, मणिपूरक में पश्यन्ती, हृदय में मध्यमा तथा कण्ठ से मुख तक वैखरीवाणी को माना गया। वाणी और प्राण के साथ तांत्रिकों में बीज मंत्रों का भी उदय हुआ। इन सबका मूल अथर्व के ऊपर संकेतित मन्त्रों में विद्यमान है। ऋग्वेद १०-१३७-२ तथा अथर्व ४-१३-२ में भी प्राणविद्या का विशद वर्णन पाया जाता है। योग में प्राण विद्या प्रमुख है।

शरीर-शुद्धि के लिए नेती, धोति, वस्ती, नौली आदि क्रियाओं विपरीत करणी मुद्रा, योग मुद्रा, महामुद्रा तथा उड्डियान बन्ध आदि का भी प्रचार हुआ, परन्तु ये कष्ट साध्य हैं। वेद में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। आसनों का भी अपना महत्व है। सिद्धासन तथा पद्मासन अपेक्षाकृत सुगम हैं, योग दर्शन तो 'स्थिरसुखमासनम्' कह कर आसन को स्थिर सुख देने वाला ही मानता है, जो प्रयत्न-शैथिल्य तथा आनन्त्य भावना से सिद्ध होता है और द्वन्द्वों की चोट से रक्षा करता है।

प्रत्याहार का मुख्य लक्ष्य इन्द्रियों को वश में करना है। इन्द्रियां करण है जो आन्तरिक तथा बाह्य दो भागों में विभक्त हैं। मन, बुद्धि चित्त तथा अहंकार अन्तःकरण है। पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियां बाह्यकरण हैं। बाह्यकरण यदि अश्व हैं, तो मन प्रग्रह, बागडोर और बुद्धि सारथी है। शरीर रथ है यजु० ३४-६ में ऐसा ही रूपक बांधा गया है। इन्द्रिय शब्द अथर्व १५-१०-१० (एनमिन्द्रियंगच्छति इन्द्रियवान् भवति) ऋग्वेद ३-३७-९) (इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ६-२७-३) (इन्द्र न किः ददृशेइन्द्रियं ते) यजु० ९-२२ (अस्मे वो अस्तु इन्द्रियम्) आदि कई स्थलों पर आया है। चक्षु, श्रोत्र, हस्त, पाद आदि नाम तो कई स्थानों पर आये हैं। मन, बुद्धि, चित्त आदि भी उल्लिखित हैं। बाह्यकरण बाहर की ओर खुले हैं। अतः इन्द्रियों का सम्बन्ध प्रायः बाह्य पदार्थों के साथ ही होता है। जब ये बाहर से हट करअन्तर्मुखी होती है, अपने विषयों से असंप्रयोग करके चित्त स्वरूप का अनुकरण करती हैं—कबीर ने जिसे उलटधार कहा है—तब प्रत्याहार की सिद्धि होती है। योग दर्शन प्रत्याहार के साथ नियम के शौच अंग द्वारा भी इन्द्रिय-जय की योग्यता के सम्पादन की चर्चा करता है। नियम का तप अंग भी काया तथा इन्द्रियों का संशोधक है। भूतजय के उपरान्त ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्व पर संयम करने से भी इन्द्रिय जय प्राप्त हो जाती है। यह इन्द्रिय जय मनोवेग को साधना में तीव्र कर देती है और साधक विशेष क्रियाशील

तथा प्रकृतिजयी बन जाता है। अन्तः तथा बाह्य-करणों का राजा अहंकार है। वेद 'अभिमातिषाह्य' शब्दों द्वारा अहंकार पर विजय प्राप्त करने का सदेश देता है।

वेद अन्तःबाह्य इन्द्रियों या करणों की बलवत्ता, निर्दोषता तथा तृप्ति का विशेष वर्णन करता है। जो पवित्र, तृप्त और सशक्त है, वह अनाचार में आसक्त नहीं होता। इन्द्रियां यदि कुपथ मे हटी रहीं, तो प्रत्याहार स्वतः सिद्ध हो गया। वेद कहता है——मनो मे तर्पयत, वाचं में तर्पयत, प्राणं मे तर्पयत, श्रोत्रम्मे तर्पयत, आत्मानम्मे तर्पयत (यजु० ६–३१)।

वाङ्० मे आसन्, नसोः प्राणः, चक्षुः अक्ष्णोः, श्रोत्रं कर्णयोः, अपलिताः केशाः अशोणा दन्ताः, बहु बाह्वोर्बलम्, ऊर्वोरोजो, जंघयोर्जवः, पादयोः प्रतिष्ठा, अरिष्टानि मे सर्वात्मा अनिमृष्टः। अथर्व १९–६०–७२।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। यजु ३६-२। ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये, चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ। यजु० ३६–१।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। यजु० २५-२१ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतं अदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात्। यजु० ३६–२४।

मेरा मन, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और आत्मा तृप्त हों। मेरे मुख में वाक् शक्ति, नासिका में प्राण, आंख में दर्शन-शक्ति और कानों में श्रवण-शक्ति बनी रहे। मेरे केश पककर श्वेत न हो जावें। दांतों में रक्त न बहे, बाहुओं में बहुत बल हो, उरुओं में ओज, जंघाओं में गति, और पैरों में स्थिरता हो, पैर लड़खड़ाने न लगें। मेरा सर्वांग स्वस्थ तथा अच्युत रहे। मेरे नेत्रों में कोई न्यूनता न आने पावे। हृदय या मन में जो घाव हो उसे रक्षक प्रभु भरदे। मैं ऋग्वेदरूपी वाणी को, यजुर्वेदरूपी मन को और साम रूपी प्राण को प्राप्त करता हूं। मेरी दर्शन तथा श्रवण की शक्ति स्वस्थ है। मेरे प्राण अपान ठीक चल रहे हैं। मेरे अन्दर वाणी का ओज तेज के साथ है।

हे यजनीय देवो! हम कानों से भद्रभावों को सुनें और आंखों से मंगल दृश्यों को देखें। हम सौ वर्षों तक देखते रहें, जीवित रहें, सुनते रहें, बोलते रहें, अदीन होकर रहें और सौ वर्षों से ऊपर भी हमारी आयु हो।

वेद जहां इन्द्रियों को बलवती बनाने की आज्ञा देता है, वहां उन्हें पवित्रता की ओर भी ले जाना चाहता है।

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व आ मा सुचरिते भज
उदायुषा स्वायुषा उदस्थाम् अमृतां अनु।
यजु ४–२८।

हम दुश्चरित से हटें और सुचरित का सेवन करें। हमारी आयु अच्छी हो, हम ऊपर उठें और अमृत देवों का अनुकरण करें। तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु। हमारा मन शिव संकल्प वाला बने। समस्त क्रियाओं का प्रेरक मन है, उसमें यदि कल्याण-कारी संकल्प उठते रहें, तो समस्त इन्द्रिय-व्यापार

मंगल मय बन जायगा । प्रत्याहार का प्रमुख लक्ष्य इसी स्थिति की उपलब्धि है ।

'वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः । मंत्र में जिन कर्ण, चक्षु, मन आदि का व्याधियों तथा आधियों द्वारा ग्रसित हो जाने पर साधना में अक्षम हो जाना वर्णित है, वह प्रत्याहार द्वारा सुगमता से सक्षमता में परिणत हो सकता है ।

प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर भूत-जय तथा इन्द्रिय-जय दोनों ही सुलभ हो जाते हैं । उस समय इन्द्रियां हठयोगियों की खेचरी मुद्रा में स्रवित रस पान से भी अधिक मधु का स्वाद लेने लगती है । वेद कहता है--"स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः । या इन्द्रेण सयावरी वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वी रनु स्वराज्यम्' ।

ऋ. १-८४-१० अथ० २०-१०९-१

पतञ्जलि ने 'चित्तस्वरूपानुकार इव' कहा था । वेद 'इन्द्रेण सयावरीः' कहता है जो निस्सन्देह प्रत्याहार-सिद्धि की दशा है । वेद ने इन्द्रियों को गौर्यः कहा है । इन्द्र आत्मा के साथ इन्द्रियों का सयावरी, साथ-साथ चलना भागवत की गोपियों का कृष्ण के साथ रासलीला में भाग लेने का स्मरण करा देता है ।

धारणा और ध्यान का संकेत गायत्री के 'धीमहि' शब्द में वर्तमान है और समाधि की अवस्था का चित्र 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः "मन्त्र में उपस्थित है ।

यम और नियम क्रमशः सामाजिक तथा वैयक्तिक उपलब्धियां हैं । दोनों का सह प्रयोग वांछनीय समझा गया है । हमें केवल नियमों को ही जीवन में नहीं उतारना है, यमों का भी पालन करना है । व्यक्तित्व और समाज परस्परापेक्षी हैं । ये पक्षी के दो पंख हैं । जैसे एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता, दोनों पंखों के फड़फड़ाने पर ही वह आकाश में उड़ता है, वैसे ही मानव शौच, संतोष के साथ जब अहिंसा सत्य आदि का भी पालन करता है, तभी वह अपना विकास कर सकता है । पूर्वकालीन सभी साधक यम-नियम दोनों के सम्यक धारण द्वारा ऊपर उठे थे, विघ्नों को दूर कर निरापद पुण्य लोक के निवासी बने थे । "इमौते पक्षौ अजरौ पतत्रिणौ" मंत्र में इसी दिशा का संकेत है । धारणा और ध्यान के लिए यदाकूतात् समसुस्रोत् हृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा" मन्त्र उपयोगी सामग्री प्रदान करता है । यदि हम किसी संकल्प, भाव, विचार या दृष्ट बिन्दु पर चित्त को बांध सकें और प्रत्यय के साथ एकतान हो सकें, तो समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेंगे, व्युत्थान से निरोध में जा सकेंगे । जैसे भूतों और इन्द्रियों में एकाग्रता के साथ धर्मलक्षण और अवस्था मे सम्बन्धित परिवर्तन होते रहते हैं, वैसे ही चित्त में भी व्युत्थान या सर्वार्थता का शमन या क्षय और निरोध या एकाग्रता का उदय होता रहेगा । एक का तिरोभाव और दूसरे का आविर्भाव चित्त का चिति के साथ एक हो जाने के लिए आवश्यक है ।

यम और नियमों की संख्या में परवर्ती साधकों ने वृद्धि की है । पतंजलि-प्रणीत योग दर्शन में इनकी संख्या ५-५ है । पांच यम है--अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह । पांच नियम हैं--शौच, संतोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान । भागवतकार ने इन्हें बढ़ाकर १२-१२ संख्या तक पहुंचा दिया है । भागवत के चार तो वही हैं, केवल अपरिग्रह का नाम असंचय है । शेष सात इस प्रकार हैं--असंग, ह्री आस्तिक्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय । नियमों में शौच, संतोष और

तप ज्यों के त्यों हैं। ईश्वर-प्रणिधान के स्थान पर जप तथा भगवदर्चन है। स्वाध्याय के स्थान पर आचार्य-सेवा है। शौच के बाह्य तथा आन्तरिक दो भेद किये गये हैं। शेष ५ हैं—होम, श्रद्धा, आतिथ्य, तीर्थाटन और परार्थचेष्टा। (भागवत ११-१९-३३–३४) भागवतकार ने धारणा के भी दो भेद किये हैं। अन्तर्यामी धारणा और वैराज धारणा जिनका सम्बन्ध क्रमशः प्रभु के सूक्ष्म तथा स्थूल रूप के साथ है। ऐसे परिवर्तन अवतार तथा मूर्तिपूजा की मान्यता के कारण उत्पन्न हुए हैं।

पतंजलि-प्रोक्त यम-नियम वेद-मन्त्रों के ही अनुसार हैं।

अहिंसा—'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' में, सत्य—सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्' में, अस्तेय—'मा वः स्तेन ईशत' तथा 'न स्तेयमद्मि' में, ब्रह्मचर्य 'ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत' में, अपरिग्रह' शतहस्त समाहर सहस्रहस्तसंकिर 'में, शौच-शुचिः पुनानस्तन्वम्' में, संतोष—'एवावस्वः इन्द्रः सत्यः सम्राट्' में, तप: 'अभीद्धात्तपसो अध्यजायत,' तथा 'तपसाये अनाधृष्या आदि में, स्वाध्याय—'संवत्सरं शशयानाः' में और ईश्वर-प्रणिधान —त्वामित् हि त्वायवो" में मूलतः विद्यमान है।' यहां केवल मन्त्रों का निर्देश किया गया है। वेद के अनेक मन्त्र इस प्रकरण में उद्धृत किये जा सकते हैं क्योंकि यम-नियम जीवन-निर्माण की आधार-शिला हैं। जीवन-निर्माण के साथ जीवन-उद्देश्य के दोनों पक्ष भोग और अपवर्ग भी इनके द्वारा सिद्ध होते हैं।

अपवर्ग त्रिगुण की वर्गबद्धता से हट जाने का नाम है। त्रिगुण में जब सत्व अन्य दो पर अभिभावी बन कर सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञातृत्व की प्रभुता समक्ष उपस्थित कर देता है, तब साधक विभूतियों से मंडित हो उठता है। योगदर्शन कैवल्य-सिद्धि के लिए इन विभूतियों के भी प्रति वैराग्य का उपदेश देता है, क्योंकि दोषों के बीज इनमें सन्निहित रहते हैं। वेद कैवल्य की परिभाषा आत्म-परमात्म-मिलन करता है। उसी के शब्दों में—

'अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव सनिभ्य आ—आत्मा और परमात्मा एकान्त कैवल्य की अवस्था तक एक हो जावें – वैष्णवों की यही सायुज्य मुक्ति है। वेद "त्वम् अस्माकम् तव स्मसि" की सायुज्यता बताकर इसे एकत्व में परिणत करता हुआ कहता है यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घास्या अहम्– ऋ०८-४४-२३ 'या तो तू मैं हो जा या मैं तू हो जाऊं।' परम और अवम की स्थिति दूर होनी चाहिये। सम धरातल, समरसता, सहजावस्था हीवांछनीय है। योग का लक्ष्य यही है। वेद हमें इसी लक्ष्य–वेध की उपलब्धि कराना चाहता है।

वज्रयान, नाथपंथ, निर्गुण सन्त कबीर आदि के सम्प्रदाय, भक्तिमार्ग सबमें गुरु की महिमा वर्णित हुई हैं। जो गुरु साधना पथ पर चला है, उसे उस पथ का ज्ञान है। वही शिष्य रूप साधक को पथ-निर्देश करता हुआ पथ पर अग्रसर करता है, विघ्नों को हटाने में सहायता देता है और जहां तक स्वयं पहुंचा है, शिष्य को भी वहां तक पहुंचा सकता है। यदि शिष्य में योग्यता है तो वह गुरु से आगे भी जा सकता है। फिर भी गुरु की अपेक्षा है ही। गुरुओं का गुरु आदि गुरु ईश्वर सबके हृद्देश में विद्यमान है। वह सबका सहज गुरु है। उसका आश्रय आश्रयों का भी आश्रय है। वेद इसीलिए कहता है :—

योगे योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे। सखा इन्द्रमूतये। अथर्व २०-२६-१

योग पथ पर चलने वाले साधक हैं तो इन्द्र के सखा ही। सयुजा भी हैं। पर प्रकृति से संयुक्त होकर इन्द्र के सायुज्य को भूल गये हैं। अतः वे प्रकृति-संयोग से त[illegible]क्षा-श्रद्धा आदि द्वारा वियोग करते हुए इस वियोग-अभियोग में, युद्ध-संघर्ष में पग-पग परमगुरु प्रभू का रक्षक रूप में आह्वान करते रहते हैं।

लौकिक गुरु में भी उनकी वैसी ही श्रद्धा है। वह भी सहायता करता है और आह्वान करने पर बुलाने पर, परमगुरु भी सहायक बनता है। तवस्तर तो वही है। अन्यों में भी बल है, पर प्रभु से वलवत्तर तो कोई भी नहीं है। दूसरा कोई सहायता करने के लिए आवे या न आवे, पर प्रभू तो आते ही हैं, बचाते ही हैं। वेद कहता है——

आद्या गमत् यदिश्रवत् सहस्रणीभिः ऊतिभिः वाजेभिः उप नो हवम् ॥२॥ यदि आर्त पुकार अन्तस्तल से निकली है तो अवश्य सुनी जाती है और प्रभु पीड़ित की पीड़ा-शमनार्थ उसके त्राणार्थ सहस्रों रक्षा-शक्तियों तथा बलों के साथ आ जाते हैं।

अनुप्रत्नस्य ओकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वपिता हुवे ।३ साधक जिस घर में बैठा हुआ प्रभु को बुला रहा है, वह नया नहीं, पुराना घर है। इसी घर में बैठकर पहले पिता भी प्रभु को बुलाते रहे है। और प्रभु भी नर हैं, नेता हैं, सबको इस घर की पीड़ा से निकालते रहे हैं। यह पीड़ा विघ्न-बाधा उनके लिए है ही क्या, इससे बड़ी-बड़ी और बहुतेरी (तुवि) बाधाओं को वे पछाड़ते रहे हैं। ऐसे ही शक्तिशाली प्रभु का आह्वान साधक का त्राण करता है।

युज्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥४॥ साधक की पथ-बाधा हट गई। उसे त्राण मिल गया। तस्थुष, जड़ शरीर के सब ओर गतिशील चेतना-भास्कर के साथ उसकी ज्ञानदीप्तियां, योग-सिद्धियां संयुक्त हो रही हैं, चमक रही हैं। वह द्यौलोक की दीप्ति का अनुभव कर रहा है। उसका ज्ञान-सूर्य उस परम सूर्य के साथ एक हो रहा है।

युज्जन्ति अस्य काम्याहरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥५॥

साधक का रथ अब बढ़ रहा है। उसमें शव तथा दीप्ति के दो प्यारे कान्त, कमनीय घोड़े जुड़ गये हैं। घोड़े शोण—बड़े तीव्र हैं, घृष्णू सबको पराजित करने वाले, धर्षणशील बल से सम्पन्न हैं और नृवाहस-आग्नेयता सम्पन्न नर-साधक को आगे ले जाने वाले हैं।

केतुं कृण्वन् अकेतवे पेशं मर्या अपेशसे।
समुषद्भिः अजायथाः ॥६॥

अभी तक साधक अकेतु था। ज्ञानदीप्ति होने लगी थी, पर विवेक-ख्याति नहीं आ पाई थी। वह भी आ गई। अकेतु में केतु का संचार हो गया। धर्ममेघ समाधि में जो विवेक की वर्षा हुई, उसमें समस्त अकेतु —— अज्ञान, अज्ञान का अंतिम अंश तक बह गया। यह देखो, निर्मल केतु फहरा रहा है। चेतना का महाकाश आनन्द-लहरियों में लहरा रहा है—तरंगायित है—कितना वेग है, कोई कह नहीं सकता। आज असुन्दर सुन्दर है। शोभा, सुषमा, सुगमता, सुन्दरता का पारावार नहीं। एक नहीं, न जाने कितनी ऊषायें आज एक साथ उदय हुई हैं।

योगदर्शन में सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधियों के साथ जिस भवप्रत्यय का उल्लेख हुआ है उसका मूल यजुर्वेद के एकादश अध्याय में इस प्रकार है--

युञ्जानः प्रथमं मनः तत्वाय सविताधियः ।
अग्ने ज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्यामरत् ।।१।।

सविता योगी तत्व की, वास्तविकता के ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रथम अपने मन और बुद्धियों को योग-युक्त करता है । इस योग से वह अग्नि, विद्युत या सूर्य की जो ज्योति या विज्ञान-प्रकाश यहां भरा पड़ा है, उसे निश्चित कर लेता है, भलीभांति जान लेता है और फिर उसे पृथ्वी के ऊपर सबके लाभार्थ प्रयुक्त करता है ।

संप्रज्ञात में प्रथम वितर्क आता है जो मन का विषय है । वितर्क के पश्चात् विचार आता है, जो बुद्धि का विषय है । वितर्क तथा विचार से जो निश्चित होता है, वह आनन्द का जनक है । इस आनन्द का अनुभव अस्मिता द्वारा होता है ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या । देव सविता की यज्ञ में हम योग-युक्त मन से स्वर्गीय आनन्द के योग्य बनने के लिए शक्ति धारण करते हैं । मानसिकता का योग हमें शक्ति देता है जिससे हम आनन्द-उपलब्धि के योग्य बनते हैं ।

युक्त्वाय सविता देवान् त्स्वर्य्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।३

सविता योगी धिया---धारणात्मक ध्यान द्वारा स्वर्गीय आनन्द को प्राप्त कराने वाले देवों, दिव्य शक्तियों के साथ युक्त होकर प्रकाश में, बृहज्ज्योतिर्मय विज्ञान में विचरण करता है । फिर अपने इस संप्रज्ञान को जन-हितार्थ प्रकट कर देता है ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य
बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।।४।।

संप्रज्ञान को जन-हितार्थ प्रकट कर देना दान है । इसदान के द्वारा योगी मानों इस परमज्ञानी, व्यापक चेतन देव की पूजा करता है । उस यज्ञ रूप प्रभु की जाज्वल्यमान ज्ञान-ज्वाला में अपने उपलब्ध ज्ञान की आहुति चढ़ाता है । परोपकार के सभी कार्य यज्ञ की आहुति रूप हैं । वह योगियों का योगी, महान सविता देव भी यज्ञ कर रहा है । वह याजकों के होत्र को यज्ञ कर्म को, एकएक परोपकार-कृति को जानने वाला है । वही इसे धारण भी कररहा है । योगिजन अपने मन को प्रभु के साथ जोड़कर बाहर से विरत तथा भीतर एकाग्र हो जाते हैं और अपनी बुद्धि को जोड़कर उसके ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित हो उठते हैं । प्रभु उनके यजन को और भी अधिक वर्धमान करते हैं । संप्रज्ञान से योगी तो प्रकाशित होता हीं है, उसके साथ प्रवृद्ध जन भी उससे लाभ उठाकर प्रदीप्त हो जाते हैं और जन-समाज उनके ज्ञान-प्रकार को पाकर पुण्य पथ पर, मंगल मार्ग पर चल पड़ता है ।

संप्रज्ञात योग में भव का पूर्ण प्रत्यय है, सर्वार्थता के देखे-सुने सभी चित्र हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हैं । असंप्रज्ञात में इन सबका विराम है, पर संस्कार तो शेष है ही । पहले में विचार-बुद्धि सक्रिय है । दूसरे में निर्विचार-विशारदता है, आध्यात्मिक प्रसन्नता है और ऋतम्भरा प्रज्ञा है जो श्रुत और अनुमान वाली प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली है,

परन्तु संस्कार इसके भी बनते हैं। ये संस्कार अन्य संस्कारों पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं उन्हें उभरने नहीं देते यहां तक सबीज समाधि का क्षेत्र है। जब ये संस्कार भी निरुद्ध हो जाते हैं, तब सब कुछ निरुद्ध हो जाता है, यह निर्बीज समाधि की अवस्था है।

मन्त्र में मन और बुद्धि, वितर्क और विचार के योग से उत्पन्न आनन्द की अनुभूति वर्णित हुई है जो सबीज समाधि के अन्तर्गत आती है, वर्णन का विषय भी यही बन पाता है। निर्बीज समाधि अनिर्वचनीय है। आगे का मन्त्र सबीज समाधि को प्राप्त अमृतास्वादी देवों से कहता है--

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

अपने पुण्य कर्मों, तपश्चर्या तथा योग साधना द्वारा जो दिव्यधामों प्रकाशमय नाक--स्वर्ग आदि लोकों में स्थित है, वे सभी अमृत पुत्र, अमृतास्वादी महाभाग सुनें। मैं दोनों संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग-सिद्धों के श्रेष्ठज्ञान को अनन्त आदर भावनाओं के साथ अपने आत्मा में युक्त करता हूं। सूरी, सुभग प्रेरणायुक्त विद्वानों के पथ के समान मेरी यह मंगल वाणी सब ओर फैले। सूरियों का पथ-प्रशस्त होता है। योग-पथ भी, प्रभु की ओर ले जाने वाली पद्धति भीजन-जन में समादृत और प्रसृत हो। सभी कल्याण पथ के पथिक बनें और अमृत का आस्वादन करें। प्रभु से वियोग का अनुभव सभी को उद्योगी बनावें जिससे प्रभु के संदर्शन में, उनकी छत्रछाया में प्रकाश पूर्ण जीवन-व्यतीत करते हुए हम स्वर्ग-सुख के योग्य बन सकें।

वेद के मन्त्रों में योग के कुछ तथ्यों का तो स्पष्ट वर्णन है, परन्तु कहीं-कहीं प्रतीक-पद्धति का भी प्रयोग हुआ है। ऊपर पक्ष शब्द का प्रयोग इसी प्रकार है। आगे मन्त्र ६ में एतश शब्द भी ऐसा ही है। नैरुक्तिक पद्धति मे इसका अर्थ होगा--जो अपनी गति से सर्वत्र व्याप्त तथा प्राप्त है। आश्चर्य का विषय है कि वर्तमान इजिप्ट (प्राचीन मिश्र) देश में एतश पूज्य देव के रूप में प्रख्यात रहा है। ऐसे एक नहीं, अनेक शब्द हैं, जो अपने तत्सम तथा तद्भव रूप में विश्वभर के देशों में प्रचलित हैं। इससे जहां विश्व की एकता सिद्ध होती है, वहां वेदों का गौरव भी प्रतिष्ठित होता है। वरदायिनी वेदमाता का संस्तव वस्तुतः स्तुत्य है।



वेदाः योगाभ्यासश्च

श्री जनमेजयः विद्यालंकारः, एम० ए०, शास्त्री कानपुर

"वेदो हि सर्वासां सत्यविद्यानां मूलम्" एतद्धि सर्वसम्मतः सिद्धान्त आर्यजाते। विशेषतश्च महर्षिप्रवरेण श्रीमता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रतिपादितो बहुशः प्रचर्चितो बहुशः प्रपञ्चितश्चायं विषयः, इदानीं नाधिकतरं व्याख्यानमर्हति, न वा किमपि खण्डनमण्डनादिकमपेक्षते। अतः सर्वसम्मतप्रायं विचारमिमं तथैवाङ्गीकृत्य प्रकृतं "वेदाः योगाभ्यासश्च" इति विषयमधिकृत्य किञ्चित् प्रस्तोष्यामः।

इदमत्रावधेयम्। न खलु वेदेषु, वेदसंहितासु, वेदचतुष्टय्यां, कोऽपि विषयः सविस्तरं सम्यग् व्याख्यातः। संक्षिप्तमेव तत्र सर्वम्, अतिसंक्षिप्तम्, अतिमात्रं सूक्ष्मम्, सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरम्, सूत्ररूपम्, निर्देशमात्रञ्च। कथमिव हि सर्वं लौकिकमलौकिकञ्च ज्ञानविज्ञानं परिमितकलेवरेषु चतुर्षु वेदेषु व्याख्यातं सम्भवेत्। अतएवहि मूलवेदोत्पत्तिमात्रं हि न पर्याप्तं सर्वजनतायाः हिताय, जनसाधारणस्योपकारं पूर्णतया विधातुं वा, इत्यवधार्यैव प्राक्तनकालादारभ्याद्यपर्यन्तं ते ते महापुरुषाः ते ते च महर्षयः, आद्याश्च प्राचीनाश्चाधुनिकाश्चापि केचन सात्त्विकाः विद्वांसः, तांस्तान् वेदोक्तान्विषयानधिकृत्य तानि तानि शास्त्राणि व्यरचयन् विरचयन्ति च। भवेयुर्नाम सृष्ट्युत्पत्तिकाले समुत्पन्नेभ्यः केभ्यश्चिद् विपश्चिद्वरेण्येभ्यः कथञ्चित् पर्याप्ताश्चतस्रो वेद संहिताः सर्वं ज्ञानविज्ञानं लौकिकमलौकिकञ्च सम्यक् प्रबोधयितुम्, किन्तु जनसाधारणाय तु प्राक्कालेऽपि चाधुनापि च न खलु समर्थाः वेदसंहिताः सर्वासां विद्यानां सम्यक् प्रबोधं कारयितुम्, इति स्वयंसिद्धा विद्यते ग्रन्थान्तरनिर्मितिः, तत्तच्छास्त्राणां चाध्ययनाध्यापनादिप्रक्रिया, गुरुशिष्यपरम्परा च। इममेव विचारमाधारीकृत्येदानीं योगाभ्यासविषये किञ्चिल्लिखामः।

तत्र प्रथमं तावत् केचन वैदिकाः मन्त्राः लिख्यन्ते, येषु योगाभ्यासविषयाः सूक्ष्मरूपेण निर्दिष्टाः सन्ति। तद् यथा,

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति, दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकम् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥ ओ३म् येन कर्माण्यपसो मनीषिणोयज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः, यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥ ओ३म् यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु, यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥ ओ३म् येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्, येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥ ओ३म् यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिताः रथनाभाविवाराः, यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥ ओ३म् सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव, हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥६॥ यजुर्वेद, अध्यात्म ३४, मन्त्र १-६।

ओ३म् वाङ्म आसन्, नसोः प्राणः, चक्षुरक्ष्णोः, श्रोत्रं कर्णयोः, अपलिताः केशाः, अशोणाः दन्ताः, बहुबाह्वोर्बलम्, ऊर्वोरोजः, जंघयोर्जवः, पादयोः प्रतिष्ठा, अरिष्टानि मे सर्वाङ्गानि, आत्माऽनिविष्टः ॥ अथर्व, १९।६१

ओ३म् तनूस्तन्वा मे सहे, दतः सर्वमायुरशीय, स्योनं मे सीद पुरुः, पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥
अथर्व, ६० १.१९

तदेते वेदमन्त्राः मनोनिग्रहमुपदिशन्ति, शुभान् संकल्पान् कर्तुं प्रेरयन्ति, मनोबलं लब्धुं समादिशन्ति । शरीराङ्गानि यथा नीरोगाणि भवेयुर्बलवन्ति च स्यु स्तथा आज्ञापयन्ति । किन्तु मन्त्रपाठमात्रेण तु पूर्णतया ते ते लाभाः न सम्यक् प्राप्तुं सर्वैः शक्यन्ते । व्याख्यामपेक्षन्ते ते ते वैदिका मन्त्राः । भाष्यमिच्छन्ति ते ते वैदिकाः मन्त्राः । के के सन्ति त उपायाः येषां साहाय्येन मनोबलं वर्धेत, शरीरं पूर्णरूपेण सदा सर्वदा च नीरोगंस्यात्, आत्मनोऽपि बलं स्वास्थ्यञ्चस्यात् । इति सर्वं क्रियात्मकरूपेण सुविचार्य लिखितमस्ति महर्षि प्रवरेणपतञ्जलिमुनिना । तदेवयोगशास्त्रम् । तदेव पातञ्जलं दर्शनम् । तदवश्यं पठनीयम् । व्यसभाष्यमपि ध्यानेनाध्येतव्यम् । उभयमपि श्रद्धया पूर्णतया पठनीयम् ।

योगशास्त्रस्य क्रियात्मकाभ्यासाय च कश्चिन्महान् योगी साक्षात्करणीयः स्वीकरणीयश्च गुरुरूपेण । तेन गुरुणा सह निवासश्चावश्यमेवविधेयः । गुरुणा विदुषा योगिना सह निवसता हि शिष्येण यथाविधि योगशास्त्रस्य शिक्षा क्रियात्मकरूपेण सम्प्राप्तव्या । स्वेच्छया वा अविधिपूर्वकं वा कोऽपि योगाभ्यासो न विधेयः, अन्यथा हानिरपि सम्भवति । महर्षि दयानन्दसदृशः कोऽपि सर्वभूतहितेरतो योगी, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर सदृशो वा कश्चिदनुभववान् योगी, आधुनापि वर्तमानकालेऽपि गुरुरूपेणावश्यमेवान्वेषणीयः अनुसरणीयश्च । योगाभ्यासो हि क्रियात्मको विषयः । क्रियात्मकाय च योगाभ्यासाय अनुभववतां योगिमहोदयानां निर्देशाः साक्षात् प्राप्तव्याः ।

अस्तु ! प्रकृतमनुसरामः वेदमन्त्राणां तत्त्वावगमाय साक्षात्काराय च योगाभ्यासस्य महती आवश्यकताऽस्तीति प्राचीनामाधुनिकानाञ्च वेदविदुषां मतम् । पूर्वमस्माभिः प्रतिपादितम् यत् सूक्ष्माः संक्षिप्ताश्च वेदमन्त्राः तत्तच्छास्त्राध्ययनाध्यापनादिसाहाय्येन व्याख्यातुं व्याकर्तुञ्च शक्यन्ते, नान्यथा । इदानीञ्चैतत् प्रतिपादयिष्यते यद् वेदानां तत्त्वावगमाय साक्षात्काराय च योगाभ्यासः परमसहायकः परमोपयोगी परमावश्यकश्च । योगशास्त्रस्य प्रवर्तको महर्षिः पतञ्जलिः, यो हि व्याकरणशास्त्रस्यापि परमो गुरुः पाणिनिकल्पश्चासीत्, व्याकरणस्य प्रयोजनानि व्याचक्षाणो व्याकरणशास्त्रं वेदरक्षार्थं परमोपयोगी निर्दिशति, निर्दिशति च व्याकरणशास्त्रं वेदाध्ययनाय वेदप्रयोजनसिद्ध्यर्थं च परमं सहायकं साधनमिति । एतद्विषयाणि यानि पतञ्जलिमहर्षेर्वचनानि सन्ति, तानि योगविषयेऽपि तथैव वक्तुं शक्यन्ते । तद् यथा "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्" "लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति," न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्न च सर्वैर्वचनैः वेदेषु मन्त्राः प्रोक्ताः, तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्" इत्यध्येयं व्याकरणम्' इदमेव सर्वं योगशास्त्रविषयेऽपि वक्तुं शक्यते । इदमेव सर्वं योगविद्याविषयेऽपि मन्तव्यम् । तद् यथा, "रक्षार्थं वेदानामध्येतव्यं योगशास्त्रम्" "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति," "न खलु वेदेषु मन्त्राः कुत्रापि सविस्तरं व्याख्याताः, न च जनसाधारणेन तपो विना योगाङ्गानुष्ठानञ्च तेषां मन्त्राणां तत्त्वंसाक्षात्कर्तुं शक्यते, "इत्यध्येयं पातञ्जलं योगशास्त्रम्" । अतएव हि प्राचीना योगिनो महर्षयः योगाङ्गानुष्ठानपरायणाः सन्तो मन्त्राणां साक्षात्कारे समर्था वभूवुः । अतएवहि योगाङ्गानुष्ठानपुरः सरमेव तपोनिष्ठाःप्राक्कालिकाः विद्वांसो बहवो मन्त्रद्रष्टारोऽभूवन् । अतएव चाधुनिकेऽपि काले महर्षिप्रवरो दयानन्दः स्वामी व्याकरणादिकं शास्त्रसमुदायं पठित्वा, योगीभूय, तपोब्रह्मचर्यादि-

योगाशास्त्रविषयान् स्वजीवने साक्षात्कृत्य, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान् समाधीन् सम्यगधीत्य, सम्यक् च योगशास्त्रं स्वजीवने आत्मसात् कृत्वा, एव सफलो वेदभाष्यकर्ता बभूव ।

पुरस्तान्मया अष्टौ वेदमन्त्राः उद्धृताः सन्ति, ये हि योगाभ्यासविषयं संक्षेपेण सूत्ररूपेण निर्दिशन्ति । अन्येऽपि केचन वेदमन्त्राः समुद्धर्तुं शक्यन्ते,ये योगाभ्यासविषयं हृदयंङ्गमं कारयितुं प्रभवन्ति । वेद संहितानन्तरं सम्प्रति वयं कांश्चिदुपनिषद्वाक्यांशानत्र लिखामो, ये हि वाक्यांशाःयोगाभ्यासविषयेऽधिकतरं स्फुटं स्पष्टं प्रकाशं प्रदास्यन्ति । तद् यथा,

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणिभयावहानि ॥१॥

समेशुचौशर्करावन्हि वालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥२॥

खद्योतविद्युत् स्फटिकाशशीनां नीहारधूमार्कानिलानलानाम् । एतानिरूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि लोके ॥३॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥४॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवञ्च । गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥५॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसोनिवेशितस्यात्मनियत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥६॥

उपनिषदनन्तरं वयमत्र पातञ्जलस्य योगशास्त्रस्य कानिचित् सूत्राणि प्रस्तुमः । एतानि सूत्राणि केवलं स्थालीपुलाकन्यायेनात्र लिख्यन्ते स्वल्पिष्ठान्येव । वस्तुतस्तु योगशास्त्रं सव्यासभाष्यं सादि समध्यं सान्तञ्च सर्वं पठनीयं मननीयञ्च । पाठकानां हृदि योगविषयिणीं श्रद्धां समुत्पादयितुमेव कानिचित् पातञ्जलिसूत्राणि समुपन्यस्तान्यत्र, तामेव च श्रद्धां वर्धयितुं व्यासभाष्यस्यापि कतिचन वचनानि प्रस्तुमः ।

'अथ योगानुशासनम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम् । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः । तस्य वाचकः प्रणवः । तज्जपस्तदर्थभावनम् । ईश्वरप्रणिधानाद्वा । मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः" । इति कानिचित् स्वल्पसंख्यकानि योगसूत्राणि लिखितानिनिबन्धेऽस्मिन् । एतानि सर्वाण्येव प्रकरणसापेक्षाणि सन्ति व्याख्याञ्चापेक्षन्ते । अतः सर्वं योगशास्त्रं सप्रकरणं सक्रमं साद्यन्तं पठितव्यं, येन सम्यग् ज्ञानं स्यात्तस्य शास्त्रस्य । अस्मिन् लेखे तु योगशास्त्रात् कुतश्चित् कुतश्चित् चित्वा चित्वा मया केवलं चतुर्दश वा पञ्चदश वा षोडश वा सूत्राणि समुद्धृतानि सन्ति स्थालीपुलाकन्यायेन ।

योगशास्त्रस्य भाष्यकारः प्रवरोमहर्षि व्यासोऽपि स्वयमपि महान् योगी बभूव । कथमिव हिविना योगाभ्यासं वा विना योगशास्त्रावगाहनं वा विना साक्षाद् योगानुभवं वा कोऽपि एतादृशं निरूपणं

अद्वितीयं योगशास्त्रभाष्यं विदधातु । अतएव योगशास्त्रस्यैवव्यासभाष्यादपि समुद्धृत्य द्वित्राणि वा त्रिचतुराणि वा वचनानि वयमत्र लिखामो येन पाठकानां ज्ञानवृद्धिः स्यात् योगविषये च जनतायाः श्रद्धा समुदियात् । यद् यथा,

"नातपस्विनो योगः सिध्यति, अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादमबाधमानमनेनासेव्यमिति ।" "सोऽयं वृश्चिकविषभीत इव आशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपंके निमग्न इति ।" "या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत् सुखम्, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम् ।" "न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्, कस्मात्, यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः ।" "तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति ।" किमधिकं लिखामो वयम् । ननु व्यासेन महर्षिणा योगशास्त्रभाष्यं वितन्वता महान् महान् महान् उपकारो विहितो लोकस्य ।

कविकुलगुरोः कालिदासस्यकुमार सम्भवमहाकाव्यात् समुद्धृत्य कांश्चिन्मनोहरान् श्लोकानत्र वयं प्रस्तुमः । एतेषु भगवतः शिवस्य योगाभ्यासो वर्णितः । रुचिरान् सरसान् मनोहरानेतान् श्लोकान्पीठत्वा जनतायाः मनःसु योगं प्रति महती श्रद्धा समुदेष्यति, उत्साहश्च समुत्पत्स्यते, आल्हादश्च प्रादुर्भविष्यति ।

पर्यंकबन्धस्थिरपूर्वकायं ऋज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवांक मध्ये ॥१॥

किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां -
विरतप्रसङ्गैः । नेत्रैरविस्पन्दिपक्ष्ममालैर्लक्ष्मी-
कृतघ्राणमधोमयूखैः ॥२॥

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनु
तरङ्गम् । अन्तश्चराणांमरुतांनिरोधान्निवाततनि-
ष्कम्पमिवप्रदीपम् ॥३॥

मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्तिहृदि व्यवस्थाप्यसमाधिवश्यम् । यमक्षरं वेदविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥४॥

एवमेव श्रीमता भगवता श्रीकृष्णेन स्वकीये भगवद्गीतानाम्नि उपदेशेऽपि योगाभ्यासाय महती प्रेरणा प्रदत्ता । योगविषये जनसाधारणस्य प्रवृत्तिर्यथास्यात्, यथा च लोकाः बहुतरलाभान्विताः भवेयुः, इत्थं भगवता श्रीकृष्णेनप्रयतितमस्ति गीतायाम् । अवश्यं पठनीयास्ते श्लोकाः षष्ठाध्याये गीतायाम् । तदनुसारञ्च स्वीयं जीवनं सफली कर्तव्यं सर्वैः । तद् यथा

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्यस्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥२
तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥३॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥४
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्तइत्युच्यते तदा ॥१॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६॥
यत्रोपरमतेचित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥७
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥८॥
यं लब्ध्वा चाधिकं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६
तंविद्याद् दुःखमंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥१०
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।११॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१२



२७ जनवरी——प्रसिद्ध आर्य नेता एवं पत्रकार स्वर्गीय इन्द्र विद्यावाचस्पति की स्मृति में दिल्ली विश्वविद्यालयीय संस्कृत-विभाग की ओर से आयोजित अखिल भारतीय संस्कृत आशुवाक् प्रतियोगिता में गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री से पुरस्कार प्राप्त करते हुए ब्रह्मचारी धर्मवीर ।



हांसी के नेहरू स्नातक महाविद्यालय में आयोजित प्रादेशिक हिन्दी वाद-विवाद प्रतियोगिता में आचार्य रघुवीरसिंह शास्त्री से चल-विजयोपहार ग्रहण करती हुई भिवानी महाविद्यालय की छात्राएं

सौत्रामणी याग

श्री डा० सुधीर कुमार गुप्त अध्यक्ष संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ३०२००४ भारत

यजुर्वेद (शुक्ल) के अध्याय १६, २० और २१ में सौत्रामणी याग के मन्त्र संकलित हैं। चित्र स्वामी के विवरणानुसार यह पशुयाग है और दो प्रकार का है——१. चरक और २. कौकिल। चरक याग में तीन——१. अश्विदेवताक धूम्रवर्ण अज २. सरस्वतीदेवताक मेष और ३. इन्द्रदेवताक मेष तथा कौकिल में पांच——ऐन्द्र, आश्विन, सारस्वत, ऐन्द्र, ऐन्द्र वायोधस पशु होते हैं। शेष सब विधियां दोनों में समान हैं।

२. यह याग सोमयागों की संस्था में आता है। अतः इस का मुख्य प्रयोजन तो वह ही है जो सोमयाग का। सोम जहां तक भौतिक पक्ष में ओषधिविशेष का रस है वहां आध्यात्मिक जगत् में यह ईश्वरभक्ति के रूप में भी आता है। ईश्वर, का साक्षात्कार और ईश्वरानुभव सोमयागों का मुख्य लक्ष्य है। सोम ऐश्वर्य और शक्ति का भी वाचक है। गौणीवृत्ति से इन की प्राप्ति भी सोमयागों का लक्ष्य है।

३. पाप की कल्पना संहिताओं के युग में ही विकसित हो चुकी थी। पाप से मुक्ति पाने की कामना भी मन्त्रों में अनेकशः आती है। शतपथब्राह्मण के मत में पाप से बचाने के कारण सौत्रामणी याग को यह नाम मिला है। अश्विनौ और सरस्वती ने नमुचि को मार कर उस के इन्द्रिय और वीर्य को इन्द्र (यजमान) में स्थापित कर उस की पाप से रक्षा की। यह रक्षा ही सौत्रामणी याग है।१ अन्यत्र२असत् से रक्षा को सौत्रामणी कहा है। यह त्राण समृद्धि रूप सोम की यजमान द्वारा प्राप्ति है। इस याग से पशु समृद्धि भी प्राप्त होती है।३ वाणी और यज्ञ से चिकित्सित होने पर यजमान क्रमशः सारस्वत और ऐन्द्र हो जाता है।४

४. शतपथब्राह्मण ने इस याग का एक और रूप भी प्रस्तुत किया है। इन्द्र ने विष्णु की सहायता से वृत्र से ऋक् यजुः और साम को छीना। इन से यज्ञ करने पर व्रीहि (—ऋक्), यव (—यजुष्) और त्रयीविद्या (—सामन्) को प्राप्त किया।५

५. शतपथब्राह्मण ने इस याग को इन्द्र से सम्बन्धित देवसृष्टि,, ब्राह्मणयज्ञ, सोम और पवित्र कहा है तथा लिखा है कि शत्रुवाले को यह यज्ञ अवश्य करना चाहिये।६

६. इन भावों की पुष्टि यजुर्वेद के सौत्रामणी प्रकरण के मन्त्रों के विषयों के विश्लेषण से होती है।

७. य, १६ स्वादिष्ट मधुमत् तीव्र अमृत सोम से इन गुणों से युक्त पेय पदार्थ के निर्माण के कथन से आरम्भ होता है। यह पेय पदार्थ सुरा (मं. ५; ७) ही है। यह शुष्मिणी (——बलवर्धक) और रक्षा में समर्थ है। मं. ७)। यह उत्तम हविः सोम ही है जिसे जल में अद्रियों से निचोड़ा जाता है। दयानन्द के मत में यह सोम सोम-वल्ली आदि ओषधियों का

---

१. श. १२.७.१. १४
२. वही, ५.५.४.१२
३. वही, कण्डिका १.
४. वही, कण्डिका १६–१७
५. वही, ५.५.५.।
६. देखें वैको., पृ. ६१५- ६१६।

रस ही है। यह सोम ब्रह्म, क्षत्र, तेज, इन्द्रिय (बल) देने वाला है। (मं.५)। इस से आश्विन, सारस्वत ऐन्द्र बल और तेज आदि मिलते हैं (मं.८-९)। यह हिंसा से बचाता है (मं.१०)। ऋण और पाप से बचाता है (मं.११)।

८. सौत्रामणी याग में प्रयुक्त शष्प, तोक्म, लाजा, मधु, मासर, सुरा और दूध सोमयाग के दीक्षा, प्रायणीय, सोमक्रय, आतिथ्य और उपसद् आदि कर्मों के प्रतीक हैं (मं. १३-१६)७।

९. सौत्रामणी याग से विविध प्रकार की धन धान्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, व्रत, दीक्षा आदि की प्राप्ति होती है (मं. १९–३१)—तदेतत् सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते (मं.३१)। ओषधियों के रस से यजमान को विशेष गति प्राप्त होती है (मं.३३)। सोमपान से पवित्रता, दीर्घायुष्य, विपत्तिनाश और दीप्ति प्राप्त होते हैं (मं. ३४-४३)। समानों की श्री सौ वर्ष तक प्राप्त होती है। देवयान, पितृयान, प्रजासमृद्धि, सब प्रकार के पितरों की सुमति, रयिपतित्व का अधिगम होता है (मं. ४६-५५)। य. १९ के अधिकांश भाग में इन और इस प्रकार की समृद्धि और सुरक्षा के लिए प्रार्थनाएं हैं।

---

७. शष्प आदि अन्नों के रूपों के वाचक पद हैं। शष्प—शोधित धान्य या नवप्ररूढ़ व्रीहि(उवट); तोक्म-नव प्ररूढ यव; लाजा—धान की खीलें; मधु—शहद; मासर—व्रीहि, श्यामाक और ओदन आदि से बनाया हुआ पदार्थ; सुरा—जल और ओषधियों का रस (श. १२.८.९.४.; सुरा, सुधीर कुमार गुप्त। आर्यावर्त, ग्वालियर, जुलाई १९६३ भी देखें।

१०. इस यज्ञ का सृष्टिरचना से भी कुछ संबंध है। एतद्विषयक मन्त्र बीच-बीच में आए हैं। तदेक की कामना रूपी इन्द्र प्रकृति के गुणत्रय के वैषम्य (—अपां फेनेन) प्रलयकालीन स्थिति (नमुचेः शिरः) को दूर कर दुःखदायी स्थितियों पर वश पाता है (मं.७१)। आंगिरस कुड् जलों से क्षीर (—तत्त्वरस) का पान करता है (मं.७३) और जीव(शुचिषत् हंसः) छन्दस् के द्वारा जलों से सोम का पान करता है। प्रजापति अन्नरसों का सेवन करता है। रेतःस्थापन से सन्तान उत्पन्न होती है। ऋत से सत्य, इन्द्र के बल, विपान, अन्न के तेज, पयस् अमृत और मधु को प्राप्त करता है (मं.७३–७६)। प्रजापति सत्य और अनृत रूपों को उत्पन्न कर वेद से उन का पान करता है। मनीषी कवि सीस, मन और ऊर्णासूत्र से तन्त्र का निर्माण करते हैं। अश्विनौ, सविता सरस्वती और वरुण यज्ञ को सम्पन्न करते हैं। ये ही प्राणियों के शरीर और रूप का निर्माण करते हैं (मं. ७७-८२) सुत्रामा इन्द्र सविता सत्य को उत्पन्न करता है। वह शरीरस्थ धातुओं, अंगों आदि को पीड़ित नहीं करता है। सरस्वती आदि भी शरीर की रक्षा करते हैं (मं.८४–९५)।

११. पापमोचन की प्रार्थनाएं भी हैं। मानव स्वभाव-वश किए गए पाप हिंसित न करें(य. १९.६२)। देवों को क्रुद्ध करने, दिन और रात के, गांव, जंगल सभा और बलोन्माद (—इन्द्रियों), शूद्र, अर्य के प्रति किए गए पापों से छुटकारा मिलता रहे (य० २०।१४-१७)। जल पापों को धो डालें (मं .२०)। फलतः अन्धकार से परे सुखरूप उत्कृष्ट ज्योति सूर्य की प्राप्ति होती है (मं.२१)। ब्रह्म और क्षत्र शक्तियों की, इन्द्र और वायु की साम्यावस्था की प्राप्ति हो।

(मं.२५–२६)।

१२. राष्ट्र की रक्षा भी इस याग का लक्ष्य है। वज्रबाहु नृपति परमबलवती शक्तियों से युद्धों में शत्रुसेनाओं का नाशक हो (मं.४८)। द्वेष दूर हो जाए, अभय प्राप्त हो जाए, (मं.५१)।

१३. सौत्रामणी याग से सब पदार्थों—द्यु लोक, पृथिवीलोक, शतारित्रा नौका, मित्रावरुण, गव्यूति, सब से स्वस्ति (य.२१.६-७) प्राप्त होती है। गायत्री, उष्णिह् अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, विराट्, द्विपदा, ककुप् अतिच्छन्दस्, रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शक्वरी, रेवती—ये छन्द और सामन् आत्मा को तेज, बल और आयु आदि दें (मं.१२–२८)।

१४. अश्विनों, सरस्वती, इन्द्र अग्नि, सोम, सुत्रामा इन्द्र, सविता, वरुण आदि के प्रिय धाम प्राप्त हो जाएं (मं.४५–४७)।

१५. य.-२९ में कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जिन में पशुओं या उनके अंगों से बलि देने की प्रतीति होती है। होता को कहा गया है कि अश्विनौ के लिए छाग की, सरस्वती के लिए मेष की, इन्द्र के लिए ऋषभ की वपा से यज्ञ करे, और देवता इन की मेदस् का प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

१६. छाग के पर्याय अज का प्रयोग धूम्र, गोधूम और कुबल के भेषज, मधु, तेज इन्द्रिय, दूध और सोम के साथ आता है। अज-छाग के अतिरिक्त इनमें कोई अन्य पद पशु वाचक नहीं है। ग्रिहिय के अनुसार अज आदि मधु, तेज, इन्द्रिय, दूध और सोम में परिणत होते हैं मं.२९) देवताजन कृत और मधु का ही भक्षण करते हैं, किसी पशु या उस के मांस का नहीं। यदि यहां 'अज' का अर्थ छाग-बकरा होता तो उसकी मधु आदि में परिणति सम्भव नहीं थी। अवि और मेषी भी भेषज और दूध आदि बन जाते हैं। (मं.३०)। मेष, सरस्वती और वपा भी दूध आदि में परिणत होते हैं (म.३१)। बल, ऋषभ, गो से इन्द्र के बल को बढ़ाया जाता है। परिणामस्वरूप अश्विन् और इन्द्र बदर, मासर, लाजा, दूध और सोम से आनन्दित होते हैं। (मं.३२)।

जैसे सहस् इन्द्रिय, भेषज, इन्द्रिय, सवितृ वरुण भिषक्पति, प्रिय पाथस् भेषज का सिंह, अग्नि सोम, सुत्रामा इन्द्र, और वनस्पति से जो सम्बन्ध है, वैसे ही छाग, मेष, और ऋषभ का अश्विनों, सरस्वती और इन्द्र से सम्बन्ध है। यहां भी परिणाम में देवजन, घृत और मधु का सेवन करते हैं (मं.४०)। अश्विनों, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र के लिए सोम छाग, मेष और ऋषभ के साथ निकाले जाते हैं। ये हरे धानों (—शष्प), तोक्म और खीलों से तेजोयुक्त, मदकारी, मासर से परिष्कृत आदि गुणों वाले हैं (मं.४२)।

१७. इस विश्लेषण से यह सुव्यक्त है कि कम-से-कम प्रस्तुत प्रकरण में अज-छाग, मेष, वृष और गो पशुवाचक नहीं हैं, वे किन्हीं अन्न या ओषधि द्रव्यों के द्योतक पद हैं। इन में से कुछ नामों से मिलते नाम की ओषधियां भी आयुर्वेद के ग्रन्थों में दृष्टिपथ में आ जाती हैं। ऐसी स्थिति में चरक और कौकिल विहित छाग, मेष और ऋषभ आदि वेदमन्त्रों को पशु रूप में अभीष्ट नहीं हैं, वे ओषधि आदि के वाचक हैं। पशु के ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध अर्थों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जो कुछ देखता है या देखा जाता है वह सब पशु है। पशु के इस भाव के सौत्रामणी याग के ऊपर वर्णित प्रयोजनों के और मन्त्रों को अभीष्ट मेष आदि के ओषधि आदि अर्थों के अज्ञान से इन को बकरा, मेंढ़ा और बैल आदि अर्थ समझे जाने लगे। अज आदि के

पुरुषविध वर्णन ने इस अर्थ भ्रान्ति में विशेष योग दिया होगा ।

१८. उपर्युक्त लेख की पुष्टि इस से भी होती है कि यजमान द्वारा छाग, मेष आदि की हवियों के प्रिय धामों की कामना की गई है । ब्राह्मणों में वाणी को और प्रजापति की आंख से निःसृत तेज को अज, आत्मा को वपा वीर्य को ऋषभ और 'मेध को मेद कहा गया है ।८

१९. निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सौत्रामणी याग में अहिंसक कर्मों और अन्न और ओषधियों के सेवन से स्वास्थ्य और बललाभ रूप प्रेय और आनन्दरूप श्रेयः की सिद्धि अभीष्ट है । यहां पशुहिंसा नहीं है ।

---

८. वैको. में मेष आदि अर्थ देखें ।

संक्षेप सूची--

ग्रिहिय०--ग्रिफिथ, हिम्ज़ औफ दी यजुर्वेद

पृ०--पृष्ठ

मं. मन्त्र

य० यजुर्वेद

वैको--वैदिक कोष, सम्पादक हंस राज

श०--शतपथ ब्राह्मण (मूल, काशी)

वेद में "योग" की चर्चा

श्री शिवपुजन सिंह कुशवाह एम० ए० साहित्यालंकार, कानपुर

योगदर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन आता है। योगदर्शन' आर्ष ग्रन्थ व वेदानुकूल होने से वैदिक योग के अन्तर्गत ही है। यहां वेद में योग की चर्चा है या नहीं इस पर विचार किया जाता है।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽध्याभरत्॥

(यजु० अ० ११, मंत्र १)

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती--जो (सविता) ऐश्वर्य को चाहने वाला मनुष्य (तत्त्वाय) उन परमेश्वर आदि पदार्थों के ज्ञान होने के लिए (प्रथमम्) पहिले (मनः) विचार स्वरूप वृत्ति तथा (धियः) धारणा रूप अन्तःकरण की वृत्तियों को (युञ्जानः) योगाभ्यास और भूगर्भविद्या में युक्त करता हुआ (अग्नेः) पृथिवी आदि में रहने वाली बिजुली के (ज्योतिः) प्रकाश को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे। वह योगी और भूगर्भ विद्या का जानने वाला होवे।"

भावार्थ-- जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भ विद्या किया चाहे वह यम आदि योग के अंग और क्रिया-कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध तत्त्वों को जान के उपदेश लेवे। फिर जो प्रकाशमान सूर्य्यादि पदार्थ हैं उनका भी प्रकाशक ईश्वर है उसको जान और अपने आत्मा में निश्चय करके अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।"

चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ--(सविता) सूर्य जिस प्रकार अपने किरणों को फैलाकर अपने भीतरी (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य) अग्नितत्त्व की दीप्ति को एकत्र करके (पृथिव्याः अधि आभरत्) पृथिवी पर पहुंचता है उसी प्रकार (युंजानः) योग समाधि का अभ्यासी आदित्य योगी पुरुष (प्रथमं) सब से प्रथम (मनः) अपनी मनन वृत्ति और (धियः) ध्यान करने और धारण करने की वृत्तियों को (तत्त्वाय) विस्तार करके अथवा (तत्त्वाय युञ्जानः) तत्व ज्ञान के लिए समाहित या एकाग्र करता हुआ (अग्नेः) ज्ञानवान् परमेश्वर के (ज्योतिः) परम ज्योति का (निचाय्य) निश्चित ज्ञान करके (पृथिव्या अधि) इस पृथिवी पर, अन्यवासियों को भी (आभरत्) प्राप्त कराता है। शत० ६।३।१।१२।"

--यजुर्वेदसंहिता भाषाभाष्य (प्रथमखंड), द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३९९-४००)

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र विद्यावारिधि:'--टिप्पणी--कोई कहते हैं कि अग्नि की ज्योति से यहां गौ का ग्रहण है। कोई कहते हैं योगी मन लगा कर अग्नि की ज्योति और भूगर्भ विद्या को जानता है।" (यजु० मिश्रभाष्य, पूर्वार्ध, पृ० ४१५)।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥ यजु० ११।२

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती--पदार्थ--हे योग और तत्त्वविद्या को जानने की इच्छा करनेहारे मनुष्यो! जैसे (वयम्) हम योगी लोग (युक्तेन) योगाभ्यास किए (मनसा) विज्ञान और (शक्त्या) सामर्थ्य से (देवस्य) सब को चिताने तथा (सवितुः) समग्र संसार को उत्पन्न करने हारे ईश्वर के (सवे) जगत् रूप इस ऐश्वर्य से (स्वर्ग्याय) सुख प्राप्ति

के लिए प्रकाश को उत्तम रीति से धारण करें। वैसे तुम लोग भी प्रकाश को धारण करो।"

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या का यथाशक्ति सेवन करें, उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थ विद्या का अभ्यास करें, तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें।

पं० जयदेश शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ—(वयम्) हम सब लोग (युक्तेन मनसा) योग द्वारा समाहित, एकाग्र स्थिर (मनसा) चित्त से (सवितुः) सर्वोत्पादक (देवस्य) परम देव परमेश्वर के (सवे) उत्पादित जगत् में (शक्त्या) अपनी शक्ति से (स्वर्ग्याय) परम सुख लाभ के लिए (ज्योतिः आ भरेम) उस परम ज्ञान को प्राप्त करें।"

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, विद्यावारिधिः—(सवितुः) संसार को अपने २ कर्म में प्रेरणा करने वाले सविता (देवस्य) देव की (सवे) आज्ञा में वर्तमान (वयम्) हम (युक्तेन) एकाग्र वा योगयुक्त (मनसा) मन से (स्वर्ग्याय) स्वर्ग के साधन करने वाले कर्म में (शक्त्या) अपनी सामर्थ्य से प्रयत्न करते हैं।"

अब नीचे महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के भावार्थ दिए जाते हैं जिनमें योग की चर्चा है—

म०द०स०— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है—योग जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम-नियम आदि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोक और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों को सिद्ध करें—" (यजु०७।४)

पं० जयदेव शर्मा—हे साधक ! तू (उपयामगृहीतः) स्वीकृत यम नियमादि द्वारा गृहीत है। प्राणादि को भीतर वश कर। योग सिद्ध ऐश्वर्य रूप सोम का पालन कर। ऋद्धि, सिद्धि रूप ऐश्वर्य और इच्छाओं की भी रक्षा कर।" (यजु०७।४)।

म०द०स०—.. ईश्वर का यह उपदेश है कि ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार के जितने पदार्थ हैं उसी प्रकार के उतने ही मेरे ज्ञान में वर्तमान हैं। योगविद्या को नहीं जानने वाला उनको नहीं देख सकता। और मेरी उपासना के बिना कोई योगी नहीं हो सकता।" (यजु० ७।५)।

म० द० स०— ...जो योगी प्राण के तुल्य सब को भूषित करता ईश्वर के तुल्य अच्छे २ गुणों में व्याप्त होता है और अन्न वा जल के सदृश सुख देता है वही योग के बीच में समर्थ होता है—" (यजु० ७।७)।

वे ही लोग पूर्ण योगी और सिद्ध हो सकते हैं जो कि योग विद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवी-पर्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते और यम-नियम आदि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं और जो इन सिद्धों का सेवन करते हैं वे भी इस योग सिद्धि को प्राप्त होते हैं (यजु०७।८)

"....मनुष्यों को उचित है कि इस योगविद्या का ग्रहण श्रेष्ठ पुरुषों का उपदेश सुन और यम-नियमों को धारण करके योगाभ्यास के साथ अपना वर्त्ताव रक्खें— (यजु० ७।९)

....योगी लोग मधुर प्यारी वाणी से योग सीखने वालों को उपदेश करें और अपना सर्वस्व योग ही को जानें तथा अन्य मनुष्य वैसे योगी का सदा आश्रय किया करें"—(यजु०७।११)

हे योगविद्या की इच्छा करने वाले जैसे शमदमादि गुणयुक्त पुरुष योगबल से विद्याबल की

उन्नति कर सकता है यही अविद्यारूपी अन्धकार का विध्वंस करने वाली योगविद्या सज्जनों को प्राप्त होकर जैसे यथोचित सुख देती है वैसे आपको दें–" (यजु० ७।१२) ।

शमदमादि गुणों का आधार योगाभ्यास में तत्पर योगीजन अपनी योग विद्या के प्रचार से योग विद्या चाहने वालों का आत्म बल बढ़ाता हुआ सब जगह सूर्य के समान प्रकाशित होता है"––(यजु० ७।१३) ।

...योगविद्या में सम्पन्न शुद्धचित्तयुक्त योगियों को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिए नित्य योग और विद्यादान देकर उन्हें शारीरिक और आत्मबल से युक्त किया करें।" (यजु०७।१४)

...जैसे योगी विद्वान् और योगिनी विद्वानों की स्त्रीजन परमैश्वर्य के लिए यत्न करें और जैसे सेवक अपने स्वामी का सेवन करता है वैसे अन्य पुरुषों को भी उचित है कि उन २ कामों में प्रवृत्त होकर अपनी अभीष्ट सिद्धि को पहुंचे"––(यजु० ७।१५) ।

योगविद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता और न पूर्ण विद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है और न इसके बिना कोई न्यायाधीश सत्पुरुषों के समान प्रजा की रक्षा कर सकता है इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि इस योग विद्या का सेवन निरन्तर किया करें"––(यजु० ७।२८) ।

जैसे मेघ वर्षा समय में अपने जल के समूह से सब पदार्थों को तृप्त करता हुआ उन्नति देता है वैसे ईश्वर भी योगाभ्यास करने के समय योगाभ्यास करने वाले योगी पुरुष के योग को अत्यन्त बढ़ाता है"––(यजु० ७।४०) ।

कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेमभक्ति के बिना योग सिद्धि को प्राप्त नहीं होता और जो प्रेम-भक्ति-युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योग सिद्धि देता है"––(यजु० ७।४३) ।

....उत्साही पुरुष को क्या नहीं प्राप्त हो सकता, कौन ऐसा पुरुष है कि जो प्रयत्न के साथ विद्वानों का सेवन कर ऋषि लोगों के प्रकाशित किए हुए योग-विज्ञान को न सिद्ध कर सके .." –(यजु० ७।४६) ।

....योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का संग करें। उनके संग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। जैसे विद्वान् का प्रकाशित किया हुआ मार्ग सब को सुख से प्राप्त होता है वैसे ही योगाभ्यासियों के संग से योगविधि सहज में प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के बिना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए उस योगविधि के साथ ही सब मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें (यजु० ११।५) ।

जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योग विद्या की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योगविद्या को सिद्ध कर सकते हैं वे सत्यवादी हो के सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होते हैं"–(यजु०११।७) ।

...मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों की शिक्षा से कृषि कर्म की उन्नति करें। जैसे योगी नाड़ियों में परमेश्वर को समाधि योग से प्राप्त

होते हैं वैसे ही कृषि कर्म द्वारा सुखों को प्राप्त होवें ।" (यजु०१२।६७) ।

हे मनुष्यों ! तुम लोगों को उचित है कि विद्वानों से योगाभ्यास और खेती करने हारों से कृषि कर्म की शिक्षा को प्राप्त हो और अनेक साधनों को बना के खेती और योगाभ्यास करो । इससे जो २ अन्नादि पका हो उस २ का ग्रहण कर भोजन करो और दूसरों को कराओ"–(यजु०१२।६८)

जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् योगिराज यथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करने और जीवन्मुक्त दशा में परोपकार करते हुए विदेह मुक्ति अवस्था में न सूर्य लोक और न पृथिवी पर नियम से बसते हैं किन्तु ईश्वर में स्थिर हो के अव्याहतगति से सर्वत्र विचरा करते हैं–" (यजु० १७।१४) ।

"मनुष्यों को चाहिये कि जो जगत् का आधार योगियों को प्राप्त होने योग्य अन्तर्यामी आप अपना आधार सब में व्याप्त है उसकी का सेवन सब लोग करें ।"–(यजु० १७।३०) ।

जो अच्छे कामों को करके योगाभ्यास करने वाले विद्वान् के संग और प्रीति से परस्पर संवाद करते हैं वे सब के अधिष्ठान परमात्मा को प्राप्त होकर सिद्ध होते हैं–" (यजु० १७।७३)

"इस संसार में योग के संस्कार से युक्त जिस जीव का पवित्र भाव से जन्म होता है वह संस्कार की प्रबलता से योग ही के जानने की चाहना करने वाला होता है और उसका जो सेवन करते हैं वे भी योग की चाहना करने वाले होते हैं उक्त सब योगीजन जैसे अग्नि इन्धन को जलाता है वैसे समस्त दुःख अशुद्धि भाव को योग से जलाते हैं––(यजु०१७।७५)

"सब मनुष्य विद्वानों के संग योगाभ्यास और धर्म्म के आचरण से परमेश्वर को अवश्य जानें ऐसा न करें तो यज्ञ आदि श्रौत और स्मार्त्त कर्म्मों को नहीं सिद्ध करा सकें और न मुक्ति पा सकें ।". (यजु०१८।६०) ।

जो युक्ताहार विहार करने हारे वेदों को पढ़, योगाभ्यास कर अविद्यादि क्लेशों को छुड़ा, योग की सिद्धियों को प्राप्त हो और उनके अभिमान को भी छोड़ के कैवल्य को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं ।"(यजु०१९।७४) ।

जैसे निवृत्ति मार्ग में परम योगी योगबल से सब सिद्धियों को प्राप्त होता है वैसे ही अन्य गृहस्थ लोगों को भी प्रवृत्ति मार्ग में सब ऐश्वर्य को प्राप्त होना चाहिये––" (यजु० १९।९१) ।

...जो परमात्मा का उपस्थान करते हैं वे यशस्वी कीर्त्तिमान् होते हैं जो योगाभ्यास करते हैं वे भेड़ियौ व्याघ्र सिंह के समान एकान्त देश का सेवन करके पराक्रम वाले होते हैं जो पूर्ण ब्रह्मचर्य करते हैं वे क्षत्रिय भेड़िया, व्याघ्र और सिंह के समान पराक्रम वाले होते हैं ।" (यजु०१९।९२) ।

"....जैसे रोगी लोग उत्तम वैद्य को प्राप्त हो औषध और पथ्य का सेवन करके रोग रहित होकर आनन्दित होते हैं वैसे योग को जानने की इच्छा करने वाले योगी लोग इसको प्राप्त हो योग के अंगों का अनुष्ठान कर और अविद्यादि क्लेशों से दूर होके निरन्तर सुखी होते हैं ।" (यजु० १९।९३)

....जैसे धर्मपत्नी पति की सेवा करती है और जैसे राजा साम दाम आदि से राज्य के ऐश्वर्य को बढ़ाता है वैसे ही विद्वान् योग के उपदेशक की सेवा कर योग के अंगों से योग की सिद्धियों को बढ़ाया करे"––(यजु०१९।९४) ।

हे मनुष्यो ! जिसके रचने से सब काल के अवयव उत्पन्न हुए और जो ऊपर नीचे बीच में पीछे से दूर समीप कहा नहीं जा सकता जो सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म है उसको योगाभ्यास से जान के सब आप लोग उपासना करो"— (यजु०३२।२)

हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास से साधन और उप साधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल का ज्ञाता सब सृष्टि का जानने वाला कर्म, उपासना और ज्ञान का साधक है उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो-" (यजु० ३४।४)।

जो योगाभ्यासादि सत्कर्मों करके शुद्ध मन और आत्मा वाले धार्मिक पुरुषार्थी जन हैं वे ही व्यापक परमेश्वर के स्वरूप को जानने और उसको प्राप्त होने योग्य होते हैं अन्य नहीं—" (यजु०३४।४४

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" उपासना प्रकरण में योगदर्शन' के अनेक सूत्रों को उद्धृत करके योग' के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

योग-दर्शन' द्वारा प्रदर्शित योग मार्ग ही वैदिक है।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती स्वयं योगीराज थे। वे १८ घण्टे की समाधि लगाते थे ऐसा उनके जीवन चरित्र में आता है।

आज कैसी रात है ?

श्री इन्द्रसैन जी

मूल पूछे, मां नि, मेरी
आज कैसी रात है ?
आज शिव की रात बेटा
आज शिव की रात है ।
आज बेटा रात शिवजी
आयेंगे, हां आयेंगे
आज मिल हम गीत उनके
गायेंगे, हां, गायेंगे ।
आज शिव की रात प्यारी
आज शिव की रात है ।
आज बेटा कुछ न खाकर,
रात सारी जाग कर,
आज शिव की अर्चना कर,
आज निद्रा त्याग कर,
आज दर्शन शिव प्रभू के
पायेंगे यह बात है ।
आज शिव की रात प्यारी
आज शिव की रात है ।
मूल शंकर ने कहा तब,
मैं नहीं कुछ खाऊंगा,
रात सारी जाग लूंगा,
दर्शनों को पाऊंगा
पुत्र क्यों ना जाग लेवे
जागती जब मात है,
फ़िक्र की क्या बात माता
आज शिव की रात है ।
प्यार में माता पुकारी,
मूल, तुम व्रत मत धरो ।
आयु छोटी है तुम्हारी,
पुत्र हठ को मत करो ।
आज सुन्दर सूर्य निकला,
आज प्यारी प्रात है ।
आज शिव की रात बेटा
आज शिव की रात है ।
धर्म पर दृढ़ मूलने पर
ठान व्रत को ही लिया,
भूख की परवाह की ना
बंद जल तक नहिं पिया,
नींद आई पर न उसने
एक भी झोंका लिया
हाथ में ले पानियों को
आंख पर छींटा दिया ।
गोद निद्रा देवि सारे
मात पितु औ भ्रात हैं
आज शिव की रात प्यारी
आज शिव की रात है ।
देव शंकर तो न आये
एक चूहा आ गया
जो चढ़ावा था चढ़ा सब
मौज से वह खा गया !
मूत्र करता मूर्ति पर क्यों ?
तात यह क्या बात है ?
आज शिव की रात प्यारी,
आज शिव की रात है ।
रात गुजरी शिव न आए
प्रात भी था हो गया
सर्वव्यापी देव शंकर
क्या कहीं पर सो गया,
जो हटाता मूषकी नहि
ध्यान में मम खोगया,
मूल शंकर सोचता है
बोध जिस को हो गया
जोत ज्ञानी जगमगी जो
क्या जगत को ज्ञात है ?
आज शिव की रात सजनी
'इन्द्र' शिव की रात है ।

प्राचीनसाहित्य में श्वसनसंख्या तथा श्वासरोग का विवेचन

श्री आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, एच-१११ शिवाजीपार्क नयी दिल्ली-२६

इस लेख में प्राचीन साहित्य के आधार पर श्वसन संख्या की समीक्षा करके आयुर्वेदोक्त श्वास रोग का संक्षिप्त प्रारम्भिक विवेचन किया गया है। श्वासरोग का विस्तृत विवरण इस लेख का विषय नहीं है। श्वास रोग के विस्तृत वर्णन के लिए एतद्विषयक अन्य लेखों एवं निबन्धों-ग्रन्थों को देखना उचित है।

प्राचीनसाहित्यमें श्वसन-संख्या--

उच्छ्वास[1] (अन्तःश्वसन) एवं निःश्वास[2] (बहिःश्वसन) के एक पूरे चक्र या द्वन्द्व को एक श्वास (या, श्वसन)-संख्या माना जाता है। यह श्वसन-संख्या या गति प्रायः नियत होती है। वराहोपनिषद्[3], ध्यानबिन्दूपनिषद्[4] तथा हंसोपनिषद्[5] में अहोरात्र (अर्थात्, पूरे २४ घण्टे) की श्वसन-संख्या २१६०० मानी गयी है; अर्थात्–प्रतिमिनट १५ बार। ये ग्रन्थ 'योग-उपनिषदः'[6] के अन्तर्गत योग-सम्बन्धी हैं और इनमें वर्णन समाधि की दृष्टि से है। समाधि-मुद्रा में श्वसन की प्रक्रिया मन्द तथा गम्भीर रहने के कारण श्वसन की गति या संख्या न्यून रहना स्वाभाविक है। तथापि यह प्रतिमिनट १५ संख्या स्वस्थावस्था की अच्छी निदर्शक है।

शतपथब्राह्मण में भी अहोरात्र की श्वसन-संख्या इतनी ही बतायी गयी है। वहां श्वसन की क्रिया को 'प्राणिति' एवं 'अपानिति' में बांटकर प्रत्येक की संख्या सौ सैंकड़े (१००×१००=१०,०००) तथा आठ सैंकड़े (८×१००=८००) अर्थात् १०, ८०० बतायी गयी हैं। इस प्रकार, अहोरात्र में प्राणन-अपानन-रूपी संयुक्त श्वसन-क्रिया की संख्या २१,६००, २(१००×१००)+(८×१००) =२१,६००

१,२– "उच्छ्वासः श्वासमार्गेण बाह्यवायोराकर्षणम्; निःश्वास आकृष्टवायोः निस्सरणम्।।" ('सिद्धान्तनिदान'–गणनाथसेन। प्रथम खण्ड)।

३. "षट्शतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः। अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघातकः।।" (वराहोपनिषद् ।५।३। देखें–अड्यार–पुस्तकालय से प्रकाशित योगोपनिषदः, पृ० ५०२)।

४. "हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः। 'हंस'–'हंसे'-त्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।६१ शतानि षड् दिवारात्रि सहस्राण्येकविंशतिः। एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।६२ (ध्यानबिन्दूपनिषद् ६१-६२) देखें–योगोपनिषदः, पृ० २००)।

५. "अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति।।" (हंसोपनिषद् ।११। देखें–'योगोपनिषदः' पृ० ५६५)।

६. 'अड्यार'–पुस्तकालयके लिए पुस्तकालयाध्यक्ष श्री अ० महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित–प्रकाशित "अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु 'योग-उपनिषदः"। व्याख्याकार–श्री उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन्।

अर्थात् प्रतिमिनट १५, बनी। यह संखया श्रमरहित शान्त स्थित, या आसीन, या स्वप्न-अवस्था में बतायी गयी है।२

नवीन अवेक्षणों से प्राकृत श्वसन-संख्या १ प्रतिमिनट १६ से २० (औसतन १८) पायी गयी है। विशेष३ अवस्था में इससे न्यूनाधिक भी सम्भव है। एकाग्र ध्यानस्थ समाधिस्थ एवं गम्भीरनिद्रित अवस्था में १६ से भी न्यून हो जाती है तथा उत्ते-जना-व्यायाम-परिश्रम-आदि की अवस्था में २० से भी ऊपर चली जाती है। प्राणायाम के विलम्बित एवं द्रुत रूपों में क्रमशः न्यूनता तथा अधिकता बढ़ी रहती है। अड्यार-पुस्तकालय से प्रकाशित 'योगोपनिषद्:' के व्याख्याकार श्री उपनिषद्-ब्रह्म-योगिन् की व्याख्या के अनुसार सुखपुर्ण स्थिति (निश्चिन्तता) में तथा दृढ़ स्वस्थ शरीर रहने पर श्वसन-गति मन्द रहती है।३ इसीलिए 'योगोपनिषदों में श्वसनसंख्या प्रतिमिनट १५ बतायी है।

ऊपर जो श्वसन-संख्या का मान प्रतिमिनट बताया गया है, वह प्रौढ़ पुरुष का है। स्त्रियों में यह मान कुछ अधिक रहता है तथा बच्चों और शिशुओं में उनसे भी अधिक। जन्मकाल में शिशु की श्वसन-संख्या ४० होती है। अतः वय-लिंग एवं अवस्था का ध्यान इस विषय में रखना आवश्यक होता है।

और, रुग्णावस्था में श्वसन-संख्या का यह मान बढ़ जाता है। ज्वर में तापमान तथा नाड़ी-संख्याके साथ-साथ श्वसन-संख्या भी बढ़ जाती है। विशेषतः फुफ्फुस या श्वासपथ में विकृति होने पर श्वसन-संख्या और भी अधिक हो जाती है। उदाहरणार्थ—श्वसनसन्निपात निमोनिया, (Pneumonia) में। श्वास एवं नाड़ी का जो अनुपात प्राकृतावस्था में १ :४ (१८ : ७२) रहता है वह इस श्वसन संख्या-वृद्धि के कारण परिवर्तित होकर १ : ३ या १ : २ तक भी पहुंच जाता है। तब, यदि नाड़ी संख्या १५० या १६० हो जावे तो १ : २ के अनुपात - क्रम के अनुसार श्वसन-संख्या ७५ या ८० तक होगी। सम्भवतः इसी अवस्था को ध्यान में रखकर 'अमृतनादोपनिषद्' में अहोरात्रकी श्वसनसंख्या १,१३,१८० (अर्थात्, प्रतिमिनट लगभग ७८.५) बतायी गयी है।१ इस सम्भावना या

---

१. शत ्शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं तद्वदन्ति। अहोरात्राभ्याम् पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चापं चानिति ।।" (शतपथब्राह्मण काण्ड १२। अध्याय ३। ब्राह्मण २। मन्त्र ८।

२. "अमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि। अहोरात्राभ्याम् पुरुषः समेन कतिकृत्वः प्राणिति चाप चानिति ।।" (शतपथब्राह्मण। काण्ड १२। प्रपाठक् १। ब्राह्मण १०। मन्त्र ८।। अर्थात् का० १२, अध्याय ३, ब्रा० २, मन्त्र ८)।

३. "सुखं तिष्ठतो दृढ़गात्रस्य श्वासगतिः स्तिमिता विभाति....।।" (श्री-उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन्-कृत टीका:; 'योगोपनिषदः'—अड्यार—१९२० की 'अमृतनादोपनिषद्'—सूत्र ३३ पर श्री—उपनिषद्— ब्रह्मयोगिन्—कृत व्याख्या। पृ० २३)।

---

१. "अशीतिश्च शतं चैव। सहस्राणि त्रयोदश। लक्षश्चैकोननिःश्वास अहोरात्रप्रमाणतः ।।" (अड्यार—पुस्तकालय से प्रकाशित 'योगोपनिषदः' के अन्तर्गत 'अमृतनादोपनिषद्' का सूत्र ३३।पृष्ठ२३)। अर्थात् अहोरात्रमें श्वसन-संख्या १, १३, १८० होती हैं।

विचार की पुष्टि इसके व्याख्याकार श्री-उपनिषद्-ब्रह्मयोगिन् द्वारा की गयी व्याख्या से भी होती है। उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अन्य स्थानों (वराहोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, हंसोपनिषद् एवं शतपथब्राह्मण) में उपदिष्ट श्वसन-संख्या २१,६०० तथा 'अमृतनादोपनिषद्' में उपदिष्ट इस १,१३,१८० संख्या में विरोध का परिहार इस प्रकार किया है कि जहां इस विभेद का कारण बाल्य-आदि विविध अवस्थाओं में शरीरोपचय एवं श्वसन-गति का तारतम्य है वहां यह भी कि सुख-स्थिति में उपस्थित स्वस्थ-पुष्ट-शरीर (दृढगात्र) वाले व्यक्ति की श्वसन-गति मन्द रहती है तथा इससे विपरीत (असुखपूर्ण स्थिति एवं अस्वस्थ-आतुर-शरीर) में उससे विपरीत, अर्थात् द्रुत एव अत्यधिक।२ इससे स्पष्ट है कि जहां शतपथब्राह्मण, वराहोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, एव हंसोपनिषद् में उपदिष्ट श्वसन-सख्या (अहोरात्र में २१,६०० अर्थात् प्रतिमिनट १५) स्वस्थ-पुष्ट एव चिन्तादि-रहित शरीर एवं मनोवस्था की है, वहां 'अमृतनादोपनिषद्' में वर्णित-श्वसन संख्या (अहोरात्र में१,१३,१८० अर्थात् प्रतिमिनट लगभग ७८.५) अस्वस्थावस्था की है।

इसके विपरीत, कुछ अवस्थाओं में श्वसनकी गति संख्या घट भी जाती है। यथा—निद्रल एव मादक द्रव्यों के विषप्रभाव से, अहिफेन से, धातुक्षय में, अग्निमांद्य में, धातुपाकमन्दता में, मूत्रविषसंचार में, मधुमेहजमूर्च्छा: आदि में।

श्वास-नाडी-अनुपात—

ऊपर हम बता आये हैं कि श्रमविहीन शान्त स्थित-आसीन-शयान अवस्थाओं में श्वसन-संख्या प्रतिमिनट १५ (अहोरात्र में २१,६००) रहती है। परिश्रम या अस्वस्थता की अवस्था में यह संख्या

'अमृतनादोपनिषद्' के इस सूत्र की व्याख्या कुछ अन्य प्रकार से करनी उचित प्रतीत होती है। उसमें प्रथम बात यह है कि प्रस्तुत सन्दर्भ 'प्राण' का है, जिस 'प्राण' का स्थान अगले सूत्र ('प्राण आद्यो हृदि स्थाने'—सूत्र ३४। व्याख्या—'श्वासकृतप्राणादिस्थानान्याह') में 'हृदय' बताया है तथा पूर्व सूत्र की व्याख्या ('प्राणो यत्र हृदयाकाशे वागादिभि: प्राणै: सह प्रतिष्ठित:') में भी कहा है। इस हृदयस्थ 'प्राण' के सन्दर्भ में आधार-आधेय-सम्बन्धसे 'नि:श्वास'—प्राण का अर्थ 'हृद्गति करना प्रसंगोपात्त प्रतीत होता है। द्वितीय, इस सूत्र (सं०३३) में 'लक्षश्चैकोन० का अर्थ एक कम लाख" (अर्थात् ९९,९९९) करने से कुल संख्या ११३, १७९ (प्रतिमिनट, ७८ लगभग) बनेगी, और ९९,००० करने से कुलसंख्या १०३, १८० (प्रतिमिनट, ७१) बनेगी जो अर्वाचीन विज्ञान की 'हृद्गति' (प्रतिमिनट, ७२) से मेल खाती है।

२. "अहोरात्रनिर्वर्त्यश्वासप्रमाणमाह — अशीतिश्चेति।....श्रुत्यन्तरं तु षट्संख्याहोरात्रयो: एकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्तीत्याम्नातम्। प्रकारद्वयप्रतिभातसंख्या—भेदस्तु बाल्यादिशरीरतारतम्यत: उपपद्यते। सुखं तिष्ठतो दृढगात्रस्य श्वासगति: स्तिमिता विभाति, एतद्विपरीतस्य विपरीता भवतीति उभयमपि सङ्गच्छते, नहि विरोधोऽस्तीत्यर्थ:। (अड्यार—पुस्तकालय से प्रकाशित 'योगोपनिषद:' में 'अमृतनादोपनिषद्' के ३३वें सूत्र की व्याख्या में श्री-उपनिषद्— ब्रह्मयोगिन्। पृष्ठ २३)।

बहुत बढ़ जाती है; यहां तक कि प्रतिमिनट ७८-८० तक भी जा पहुंचती है।

स्वस्थावस्थाओं में श्वसन-संख्या तथा नाड़ी-संख्या का परस्पर एक विशेष अनुपात स्थिर रहता है। इस दृष्टि से स्वस्थ शरीर की श्वसन-संख्या श्रम-विहीन अवस्था से भिन्न कार्यादि की सामान्य अवस्थाओं में १६ से २० औसतन,१८) प्रतिमिनट मानी जाती है तथा नाड़ी-संख्या ६० से ९० (सामान्यतः ७० से ७५, औसतन ७२) प्रतिमिनट। इस प्रकार, श्वास-नाड़ी का अनुपात १८ : ७२ अर्थात् १ :४ बना। इस अनुपात का वर्णन ईसा से कई सदियों पूर्व सर्वप्रथम प्राचीन चीन में हुआ था।

यह श्वास नाड़ी अनुपात समान्यतया स्थिर रहता है। परिश्रम-ज्वर-आदि में श्वास एवं नाड़ी दोनों की गतियां बढ़ जाती हैं और उस स्थिति में भी इनका पारस्परिक अनुपात यही रहता है। उदाहरणार्थ--तापमान नार्मल से १°फार. बढ़ने पर नाड़ीसंख्या में १० की वृद्धि होती है और उसी अनुपात में श्वास भी बढ़ता है; ४°फार. तापमान बढ़ने पर नाड़ीसंख्यामें ४० (४×१०=४०) की वृद्धि होकर वह ११२ (७२+४०=११२) हो जावेगी और तब श्वास-संख्या उसी अनुपात में २८ होगी।

परन्तु इसके अपवाद भी हैं। मन्थरज्वर-सन्निपात (आन्त्रिकज्वर, टाइफाइड-फीवर) में हृदय-नैर्बल्य के कारण नाड़ीगति मन्द हो जाती है तो तापमान में प्रति १° फा० की वृद्धि के साथ नाड़ी की गति या संख्या में वृद्धि १० के स्थान पर कहीं न्यून होती है और श्वास की गति या संख्या में वह वृद्धि अपने स्वाभाविक अनुपात में होती है, तो श्वास-नाड़ी-अनुपात तब १:४ के स्थान पर १:३ या इसी प्रकार परिवर्तित होजाता है। सशोफ हृदयावसाद (कंजैस्टिव कार्डियक फेल्यार; Congestive cardiac failure) में भी अनुपात इसी प्रकार १ : ३ या १ : २ या कभी-कभी एकाध रोगी में १ : १ भी हो जाता है। दूसरी ओर, श्वसनक-सन्निपात (निमोनिया; Pneumonia) में श्वासगति अपने स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा कहीं अधिक द्रुत होती है; तब भी यह श्वास-नाड़ी-अनुपात १ : ३ या १ : २ और कभी-कभी एकाध केस में १ : १ तक जा पहुंचती है। सम्भवतः ऐसी अवस्था का ही इंगित 'अमृतनादोपनिषद्' के पूर्वोद्धृत सूत्र ३३ में है जहां श्वाससंख्या अहोरात्र में उतनी अधिक ("अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश। लक्षश्चैकोन निःश्वासः अहोरात्र प्रमाणतः ॥"—अमृतनादोपनिषद् ।३३) बतायी गयी है। इसके विपरीत अहिफेन-विष में श्वास-गति बहुत मन्द होजाने के कारण यह अनुपात घटकर १ : ५ या १ : ६ भी हो जाता है।

इस प्रकार, अनेक रोगों के निर्णय में यह श्वास-नाड़ी-अनुपात सहायक होता है।

श्वसन का ताल--

'ताल' का अर्थ है, नियत समयक बाद नियत रूप में यथापूर्व आवृत्ति होना। जिस प्रकार संगीत में सम एक विशेष स्थान पर आकर गिरता है तथा तबले की थाप भी उसके साथ पड़ती है, उसी प्रकार श्वास भी नियत गति एवं नियमित अन्तर पर आता और निश्चित अवधि का रहता है--यही श्वास का ताल है।

श्वसन का नियमित ताल (Rhythm) तथा नियमित गति स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। उसी के आधार पर श्वसनकी संख्या प्रतिमिनट १५ या

१६ से लेकर २० (औसतन, १८) होती है। और, प्रत्येक बार जो श्वास आता है, वह पिछले से नियत अन्तर पा आता है, उतना ही ऊंचा उठता है, तथा उतने ही समय बाद उसमें अवरोह या उतार आता है। दो श्वासों के नियत बिन्दु तथा मध्यान्तर सदा पूर्व सम होते हैं। ऐसी नियमितता स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है।

कुछ अवस्थाओं में इस गति और ताल या नियमबद्धता में अन्तर भी पड़ जाता है। उदाहरणार्थ––आवेशों या मनोवेगों में और क्रोध-उग्रता-हिंसा-घृणा-द्वेष-उत्तेजना-आदि में गति तथा ताल तीव्र हो जाते हैं और शान्तावस्था-भय-आदि में मन्द। तब भी अन्तर अधिकतर गति में आता है और ताल स्वस्थ से भिन्न होने पर भी उस अवस्था में प्रायः एकसम रहता है। परन्तु कुछ रोगावस्थाओं में ताल भी बेताल हो जाता है। ऐसी अवस्था को 'श्वासरोग' (Breathing disease) कहते हैं।

श्वासरोग (Breathing disease)—

आयुर्वेद में श्वासरोग पांच प्रकार के बताये गये हैं––छिन्न, ऊर्ध्व, महा, क्षुद्र तथा तमक श्वास। ये सब श्वसनक ताल तथा स्वरूप में विकृति के उदाहरण हैं, अतः कष्टकर होने पर 'श्वासरोग' कहलाते हैं। परन्तु श्वास की गति एवं ताल में यह अन्तर कभी-कभी रोग के बिना भी आजाया करता है, तब ये 'छिन्नशासन' आदि नामों से कहे जाते हैं। हम श्वसन वाली संज्ञा के रूप में ही इन पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

छिन्नश्वसन --

इस अवस्था में श्वसन की गति तथा ताल में विच्छिन्नता आजाती है।१ 'विच्छिन्नता' का अर्थ है, श्वसन का बन्द या मन्द होना। प्रायः श्वसन की क्रिया बीच-बीच में बन्द होजाती है। परन्तु इसके साथ ही श्वसन-क्रिया में बढ़ने तथा घटने और बन्द होने का संयोग अनेक रूपों या क्रमों में सम्भव है। इसके दो प्रकार प्रमुख हैं––

(क) प्रथम प्रकार में श्वसन-क्रिया की विच्छिन्नता के मुक्तानुबन्धी आवेग धीरे-धीरे आते हैं तथा बाद में उसी प्रकार शनैःशनैः श्वसन-क्रिया नियमित हो जाती है। पुनः उसी प्रकार विच्छिन्नता आती है और उसके बाद नियमितता। प्रत्येक विच्छिन्नता-आवेग में प्रथम धीरे-धीरे श्वसन-क्रिया मन्द होती हुई सर्वथा बन्द होजाती है; लगभग ५ से ४० सैकण्ड तक बन्द रहने के बाद श्वसन-क्रिया पुनः उदित होकर धीरे-धीरे बढ़तीहै, यहां तक कि श्वसन-वृद्धि का रूप श्वासकाठिन्य या श्वासकृच्छता (Dyspnoea) का होजाता है। पुनः यथापूर्व क्रम से अगला आवेग कुछ देर बाद धीरे २ प्रारम्भ होता है। इस प्रकार के श्वसन को चेन-स्टोक्स-श्वसन (Cheynestokes-respiration) कहते हैं। इसमें कभी-कभी खर्राटें या घुर्घुरक-श्वसन' (Stertorous respiration)

---

१. (क) "यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।" (चरक। चिकित्सा।१७।५२)।

(ख) "सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत्।" (सुश्रुत। चिकित्सा ५१।११)।

(ग) "छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नम्।" (अष्टांगहृदय। निदान।४।११)।

की भी उपस्थिति होती है। सामान्यतः गहरी नींद की अवस्था में इस प्रकार का श्वसन थोड़े बहुत रूप में मिलता है। गम्भीर मूर्च्छा (वातनाडीकेन्द्रों में विकृति से उत्पन्न) में तथा निद्रल विषद्रव्यों के विषात्मक प्रभाव से भी ऐसा श्वसन होजाता है। इसके अतिरिक्त जरठता (Senility), हृद्रोग, वृक्करोग, मस्तिष्क रोग, आदि में तथा वातिक रूक्षता–खरता एवं कठिनता का प्रभाव मस्तिष्क-श्वासपथ-रक्तवाहिनियों-आदि में होने पर भी ऐसा विकृत श्वसन पाया जाता है।

(ख) द्वितीय प्रकार में विच्छिन्नता का आवेग धीरे-धीरे के स्थान पर अकस्मात् शीघ्रता से आता है। अकस्मात् श्वसन-किया बन्द या मन्द हो जाती है तथा लगभग १० से ४० सैकन्ड तक बन्द रहकर अकस्मात् द्रुत हो जाती है। इस आकस्मिक श्वसनहीनता के आगे-पीछे उथले-गहरे या द्रुत श्वसन की उपस्थिति मिलती है। इस प्रकार को 'बायट-श्वसन' (Biot's respiration) या 'मस्तिष्कच्छद शोथज-श्वसन' (meningitic respiration) कहते हैं। यह प्रायः घातक होता है। यों, कभी-कभी बच्चों में निद्रा में भी यह प्रकार देखा जाता है।

आयर्वेद में 'छिन्नश्वास'–नाम से जो वर्णन है, वह 'छिन्नश्वसन' की प्रक्रिया का रोगात्मक असाध्य रूप है। 'छिन्नश्वसन' तो सामान्यतया स्वस्थ शरीर में भी प्राकृत रूप में गहरी निद्रा के समय उपलब्ध होता है, परन्तु 'छिन्नश्वास' असाध्य श्वासरोग है, जिसमें छिन्नश्वसन' की प्रक्रिया अन्य असाध्य लक्षणों के साथ मिली रहती है।

'छिन्नश्वास' में श्वसन-क्रिया के ताल की विच्छिन्नता (विषमता या अभाव) के अतिरिक्त रोगी को मर्मच्छेद-सदृश वेदना होती है जिससे रोगी को बड़ी बेचैनी, प्रलाप, विक्षिप्तचित्तता, मूर्च्छा, विप्लुताक्षता,१ परिशुष्कास्यता, विवर्णता, तथा स्वेदातिप्रवृत्ति होती है। उदर में आध्मान होता है तथा बस्तिप्रदेश में दाह एवं निरोध के कारण मूत्रकृच्छ्र या मूत्रनिरोध होजाता है। इसके अतिरिक्त, एक नेत्र में प्रबल शोथ एवं लालिमा होती है, जिससे नेत्र के भीतर एवं मस्तिष्क के अन्दर क्षोभ, रक्तस्राव एवं विषप्रभाव की उपस्थिति का अनुमान होता है। सर्वप्राण में पीडा के साथ-साथ मृत्यु भी हो जाती है।१ ऊपर वर्णित रोगों के साथ-साथ ये लक्षण तुलनीय हैं।

---

१. विप्लुताक्षता = Nystagmvas "विप्लुते एकमानवस्थिते अक्षिणी यस्य स एवम्।" (अरुणदत्तटीका। अष्टांगहृदय। निदान।४।११)

१.क. "यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन वस्तिना।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥
विचेतः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन् नरः।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रम् प्रजहात्यसून्॥" (चरक। चिकित्सा १७।५२-५४)।

ख. "छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नं मर्मच्छेदरुगर्दितः
सस्वेदमूर्च्छः सानाहो बस्तिदाहनिरोधवान्।
अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचनः॥
शुष्कास्यः प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतनः।
(अष्टांगहृदय। निदान।४।११-१३)।

ऊर्ध्वश्वसन—

श्वसन की नियमित चलती क्रिया के ताल में इस अवस्था में अन्तराअन्तरा श्वसन ऊंचा और गहरा आता है,२ जैसे 'आह' भरी जाती है। 'आह' के सदृश स्वरूप के कारण इसे 'आह-श्वसन' (Sighing respiration, suspirous breathing) कहते हैं। प्रायः यह अवस्था वातिक क्षोभ, श्रम, क्लम या दौर्बल्य में होती है।

आयुर्वेद में 'ऊर्ध्वश्वास' के नाम से जिस अवस्था का वर्णन है, वह रोगात्मक एवं असाध्य है। रोगी एक बार ऊर्ध्व श्वसन (यहां 'ऊर्ध्व श्वसन का अभिप्राय 'वहिःश्वसन' है) दीर्घ काल तक लेता है, अर्थात् श्वास वायु को बाहर निकालने में पर्याप्त विलम्ब लगाता है; परन्तु फिर उसके बाद अन्तःश्वसन अपर्याप्त रूप में आता है।३ इसे 'वहिःश्वसनकष्ट' (Expiratory dyspnoea) कह सकते हैं। इसमें अन्य लक्षण निम्नलिखित होते हैं—मुख तथा प्राणवह स्रोतों में श्लेष्मा भरे रहना, वात का प्रकोप, आंख का ऊपर को चढ़ जाना और दृष्टि-असमर्थता या नेत्रों का चंचलतावश इधर-उधर घूमना, मूर्च्छा, अतिवेदना, मुख सूखना, बेचैनी, भ्रम, मोह, वाङ्निरोध, रोना, मर्मच्छेद, आदि-आदि।१ मृत्यु बहुत सम्भव है।

महाश्वसन—

इस अवस्था में श्वसन की प्रक्रिया प्राकृत की अपेक्षा अधिक ऊंची और गहरी परन्तु एकसम (rhythmic) रहती है, अतएव वक्षस् के आरोह-अवरोह को दूर से ही देखा जा सकता है।२ इसे

---

२. (क) "दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वम्" (चरक। चि.। १७।४९)। (ख) "दीर्घमूर्ध्वं श्वसिति" (हृदय। नि.।४।१६)। (ग) ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घम्। माधव निदान। श्वास प्रकरण)।

३. (क) "दीर्घं श्वसिति श्वासस्य बहिर्निर्गमनं दीर्घकालं करोति। न च प्रत्याहरत्यध इति श्वासमधो न नयति।" (चक्रपाणि-टीका। चरक। चिकित्सा।१७।४९)।

(ख) "ऊर्ध्वं श्वासम् मुक्त्वा पुनरधोनिःश्वासवन्न तं श्वासं प्रत्याहरति। यथा,—अन्येषु श्वासेषु नर ऊर्ध्वं दीर्घं श्वासम् मुक्त्वा पुनरधः प्रत्याहरति पुनरन्तः प्रवेशयितुं शक्नोति, नैवमस्मिन्नूर्ध्वश्वास इत्यर्थः।' (अरुणदत्तटीका। अष्टांगहृदय। निदान। ४।१६)।

१. (क) "दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः।। ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः।। ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधः निरुध्यते। मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून्।। (चरक। चिकित्सा।१७। ४९-५१)।

(ख) "दीर्घमूर्ध्वं श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यधः श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः।। ऊर्ध्वदृग् वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परितः क्षिपन्। मर्मसुच्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक्।।" (अष्टांगहृदय। निदान।४।१६-१७)।

२. (क) "उच्चैः श्वसिति....प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।" (चरक। चिकित्सा।१७।४६, ४८)।

(ख) "महता....नादेन श्वसिति..उद्धूयमानः....वक्षः समाक्षिपन्।" (अ० हृदय। निदान।४।१३, १४, १५)

'अतिश्वसन' (Hyperpnoea, hyperventilation) भी कह सकते हैं। ओषजन के भारी दबाव वाले वातावरण में श्वसन से ऐसी स्थिति होती है। इससे रक्त तथा तन्तुओं में ओषजन की मात्रा बढ़ जाती है तथा निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं—भ्रम, व्यामोह, स्पर्शशून्यता, पेशीकम्प, कर्णस्वन, हस्तपाद में पिपीलिका-परिसर्पण-वेदना, और कभी-कभी आकस्मिक मूर्च्छा भी।

आयुर्वेदोक्त 'महाश्वास' वस्तुतः असाध्य रोगावस्था है। इसमें श्वसन क्रुद्ध-उन्मत्त धौंकनी के समान वेगवान् तथा ऊंची आवाज़ वाला होता है, मानों कोई क्रुद्ध बैल खूंटे से बंधा हो और ज़ोर से हांफ रहा हो; विवेकशक्ति जाती रहती है; नेत्र विह्वल भटकते-से और विकृत लाल होते हैं; चेहरा (आनन) विह्वल लाल एवं दीनतापूर्ण होता है; वाणी लड़खड़ाती तथा अस्पष्ट होती है; कण्ठ सूख जाता है; कर्ण-शंखदेश-शिर-आदि में बड़ी वेदना होती है; मल-मूत्र रुक जाते हैं; बीच-बीच में मूर्च्छा भी आती रहती है और प्रायः असाध्यता ही होती है। मृत्यु प्रायः शीघ्र ही हो जाती है।१

ये तीनों श्वास (छिन्नश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं महाश्वास) यदि अस्पष्ट एवं निर्बल लक्षणों वाले हों, तो साध्य या कष्टसाध्य होते हैं, परन्तु इनके लक्षण यदि प्रबल एवं सुव्यक्त हों तो इन्हें असाध्य ही समझना चाहिये।२ आधुनिक चिकित्सा से कुछ याप्यता प्राप्त हो सकती है, परन्तु पूर्ण साध्यता नहीं।

क्षुद्रश्वसन—

क्षुद्रश्वसन (Short breathing) में रोगी का का श्वसन उथला और द्रुत होता है, इसे 'हांफना' भी कहते हैं। रूक्ष पदार्थों के अति सेवन, परिश्रम, अतिभोजन, आदि से इसकी उत्पत्ति होती है और स्वयं शान्ति भी हो जाती है। यह तब एक प्रकार का अस्थायी अवस्थित श्वसन होता है, रोग नहीं। न तो इससे अधिक कष्ट होता है, इन्द्रियों एवं गात्र में व्यथा अथवा वेदना नहीं होती, खान-पान के पाचन में तथा महास्रोत-वर्ती गतियों में रुकावट भी नहीं होती, इन्द्रियों के व्यवहार में बाधा नहीं पहुंचती तथा सामान्यतः इस श्वसन के कोई उपद्रव भी नहीं होता।३ अर्थात् सब मिलाकर यह 'क्षुद्र-

---

१. (क) "उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ प्रणष्टज्ञानविज्ञानस्तथा। विभ्रान्तलोचनः विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥" (चरक।चिकित्सा ।१७।४६-४८)।

(ख) "महता महता दीनो नादेन श्वसिति क्रथन् ॥ उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभइवानिशम्। प्रणष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्तनयनाननः ॥ वक्षः समाक्षिपन् बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्। शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्णशंखशिरोऽतिरुक् ॥" (अष्टांगहृदय। निदान। ४।१३-१५)।

२. (क) "एते सिद्ध्येयुरव्यक्ताः, व्यक्ताः प्राणहरा भृशम्।" (अष्टांगहृदय। निदान।१८)

(ख) "क्षुद्रः साध्यो यतस्तेषां, तमकः कृच्छ्र उच्यते। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥" (सुश्रुत। उत्तर ५१ (सुश्रुत। १३।५१।१४)

३. (क) "रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनांगप्रबाधकः॥ हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे। न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ नेन्द्रियाणां व्यथां वापि कांचिदापादयेद्रुजम्। स साध्य उक्तः. . .॥" (चरक। चिकित्सा ।१७।६५-६७)।

(ख) तत्रायासातिभोजनैः। प्रेरितः प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वयंसंशमनम् मरुत् ॥" (अ. हृदय। निदान ।४।५)।

श्वसन' साध्य होता है।२ द्रुत भस्त्रा-प्राणायाम में भी ऐसा क्षुद्रश्वसन होता है। सामान्य प्राकृत क्षुद्र श्वसन या 'हंफनी' से अतिरिक्त 'क्षुद्रश्वसन-प्रवृत्ति' (Short-breath-disposition) ३अनेक व्यक्तियों में रहती है और सम्यक् प्राणायाम के द्वारा इस प्रवृत्ति को दूर करके श्वसन सामान्य बनाया जा सकता है।

जलोदर, वातोदर, कफोदर, अजीर्ण, अलसक, मेदस्विता, गुरुभोजन आदि रोगों तथा अवस्थाओं में भी क्षुद्रश्वसन वैकृत रूप में रहता है; तथातब मूलरोग की चिकित्सा करके प्राणायाम के द्वारा श्वसन को प्राकृत किया जा सकता है।

रोग-रूप में भी 'क्षुद्रश्वास' बहुतों में रहता है। तब रोगी जरा-सा भी काम करने लगता है तो उसे श्वासकृच्छता (Dyspnoea) होने लगती है, जो विश्राम करने पर शान्त हो जाती है।३ इसका भी प्रतिकार 'प्राणायाम' ही है। सामान्यतः 'क्षुद्रश्वास' साध्य है।

तमकश्वास—

यह एक रोग ही है; सामान्य 'श्वसन' ऐसा कभी नहीं होता। इसमें भी श्वास की गति तथा ताल में वैषम्य आ जाता है। यह एक विस्तृत विषय है तथा स्वतन्त्र लेख या निबन्ध की अपेक्षा रखता है। इसके सम्बन्ध में बहुत-सा अनुसन्धान जामनगर, बनारस, बड़ौदा, राजस्थान आदि में हो चुका है तथा पर्याप्त अनुसन्धान-साहित्य प्रकाशित भी हो चुका है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा है। इस संक्षिप्त लेख में इस विषय को नहीं लिया जा सकता।

विषयसंक्षेप—

१. विश्रामावस्था में श्वसन-संख्या अहोरात्र में २१,६०० तथा प्रतिमिनट १५ होती है।
२. सामान्य कार्य-व्यापार के समय श्वसन-संख्या प्रतिमिनट १८ होती है। सामान्यतः १६ से २०।
३. अति परिश्रम, क्रोध, रोग आदि में श्वसन-संख्या बढ़कर ७५-८० भी हो जाती है।
४. श्वसन-संख्या के ये मान बराहोपनिषद्-ध्यानबिन्दूपनिषद्-हंसोपनिषद् अमृतनादो – पनिषद्–शतपथब्राह्मण–आदि प्राचीन साहित्य में उपदिष्ट हैं।
५. अमृतनादोपनिषद् में उपदिष्ट प्राणसंख्या का विनियोग प्राण के अधिष्ठान हृदय में करने से हृदयगतिसंख्या ७१ या ७८.५ प्रतिमिनट आती है जो आधुनिक के सन्निकट ही है।
६. श्वसन के ताल मे वैषम्य से उत्पन्न तीन रोग (छिन्न-ऊर्ध्व-महाश्वास) असाध्य हैं।
७. श्वसन के ताल में उत्पन्न क्षुद्र एवं अस्थायी वैषम्य से उत्पन्न क्षुद्रश्वास प्रायः साध्य होता है।
८. 'तमकश्वास' भी श्वसन-ताल-वैषम्य से उत्पन्न होता है, परन्तु यह एक रोग है और याप्य है।

---

१. (क) क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषाम्" (सुश्रुत। उत्तरतन्त्र। अ०५१)।। ख) स साध्य उक्तः" (च.चि.१७।६७)

२. किं चिदारम्भमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते। निषण्णस्येति शान्ति च स क्षुद्र इति संज्ञितः।।" (सुश्रुत। उत्तर.। अ० ५१)

वेद में योग

श्री मनोहर विद्यालंकर

योग शब्द

वेदों में योग शब्द लगभग ३० बार आया है। योगः योगम्, योगाय, योगे, योगैः आदि अनेक रूपों में चारों वेदों में यह शब्द आया है, किन्तु आचार्य सायण और महर्षि दयानन्द जैसे भाष्यकारों ने भी इस शब्द की व्याख्या या भाष्य करते हुए, कहीं भी इस शब्द को पातंजल योग दर्शन या तत्पश्चाद्वर्ती योग पुस्तकों में प्रयुक्त अर्थों में ग्रहण नहीं किया है। इस शब्द का अर्थ प्रायः संयोजन अथवा प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ३४ बार,

१. पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं.। ऋक्७-५४-३
२. शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं.। ऋ-७-८६-८
३. इन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः। ऋ.१०-८६-१०
४. योगक्षेमं व आदायाहं भूपासमुत्तमः।
ऋ. १०-१६६-५,

तथा यजुर्वेद व अथर्ववेद में एक एक बार,

योगक्षेमो नः कल्पताम्। यजुः २२-२२
योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च।
अथर्व १६-८-२

योग शब्द क्षेम के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस द्विक में प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ प्रायः सभी भाष्यकारों ने लौकिक साहित्य की तरह 'योग' का अर्थ अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति तथा 'क्षेम' का अर्थ प्राप्त की हुई वस्तु का रक्षण किया है। जिससे यह प्रकट होता है कि वेद के अब तक के भाष्यकारों के मत आधुनिक समय में प्रचलित अर्थों में प्रयुक्त 'योग' को वेदों में कोई स्थान नहीं है। वेद तो शुद्ध कर्म, स्तुति, प्रार्थना और अधिक से अधिक उपासना का आदेश देते हैं। और उपासना के लिए भी दार्शनिक योग जैसी किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते।

योग और दयानन्द

योग शब्द का भाष्य करते हुए यद्यपि म० दयानन्द ने कभी योग शब्द को पातंजल प्रयुक्त अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। किन्तु भिन्न २ स्थानों पर कई शब्दों का अर्थ करते हुए कई स्थानों पर भावार्थ में अत्यन्त स्पष्ट रूप से पातंजल अर्थ में योग शब्द को स्वीकार किया है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

१. यजुर्वेद में २३-४ में उपयामगृहीतः का अर्थ किया है 'उपयामेन सत्कर्मणा योगाभ्यासेन गृहीतः स्वीकृतः।'

२. यजुर्वेद २३-५ में युञ्जन्ति का अर्थ दिया है— योगाभ्यासेनान्तर्यामिणं परमात्मानं स्वमात्मना युंजते।

अर्थ—अन्तर्यामी परमात्मा को योगाभ्यास के द्वारा अपनी आत्मा से जोड़ते हैं।

३. यजुर्वेद २७-२४ मन्त्र का भावार्थ दिया है— यद्येकान्ते स्थित्वास्य प्राणस्य द्वारा स्वात्मानं परमात्मानं च ज्ञातुमिच्छेयुस्तर्ह्यनयोः साक्षात्कारो भवति।

अर्थ—यदि एकान्त में बैठ कर प्राण की साधना के द्वारा आत्मा और परमात्मा को जानने की इच्छा करें तो इन दोनों का साक्षात्कार हो जाता है।

४. यजुः ३२-२ के भावार्थ में लिखा है— यत् सर्वत्र पूर्णं ब्रह्मास्ति तद्योगाभ्यासेन विज्ञाय सर्वे उपासीरन्।
अर्थ—जो पूर्ण ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है, उसे योगाभ्यास द्वारा जानकर, उसकी सब लोग उपासना करें।

५. यजु: ३४-४ के भावार्थ में लिखा है---
यच्चित्तं योगाभ्याससाधनोपसाधनसिद्धं---
भूतभविष्यद्वर्त्तमानज्ञं वर्तते।

अर्थ---योगाभ्यास के साधनों द्वारा सिद्ध करने पर चित्त भूत भविष्यद् तथा वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता बन जाता है।

६. यजु: ३४-४४ में पहिले तो विप्रास: शब्द का अर्थ किया है 'मेधाविनो योगिन:' और फिर इस मन्त्र का भावार्थ लिखा है:---
ये योगाभ्यासादिना शुद्धान्त: करणात्मानो धार्मिका: पुरुषार्थिनो जना: सन्ति त एव परमेश्वरस्य स्वरूपं ज्ञातुं लब्धुं चार्हन्ति नेतरे।

अर्थ---जिन लोगों ने योगाभ्यासादि के द्वारा अपने अन्त:करण और आत्मा को शुद्ध कर लिया है, तदनन्तर पुरुषार्थी भी बने रहते हैं, वे ही परमेश्वर के स्वरूप को जानने और प्राप्त करने के योग्य बनते हैं, दूसरे नहीं।

७. यजुर्वेद ३५-१४ के भावार्थ में लिखा है---
धार्मिका योगिनो महादेवं परमात्मानं साक्षाद्विज्ञाय मोक्षमवाप्य सततमानन्दन्ति।

अर्थ---धार्मिक तथा योगी जन ही महादेव परमात्मा को साक्षात् जान कर मुक्त होकर सदा आनन्द, अनुभव करते हैं।

८. यजु: ४०-७ में 'अनुपश्यत:' का अर्थ किया है अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद् द्रष्टु:---
अनुकूल योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् दर्शन करने वाले को मोह शोक कुछ नहीं रहता।

९. यजुर्वेद के ४०-४ के भावार्थ में लिखा है---
तस्य ब्रह्मण:-धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति नेतरस्य।

अर्थ---धार्मिक विद्वान् एवं योगी ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है, अन्य नहीं।

ऊपर दिये गए कुछ उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द वेदों में पातंजल प्रयुक्त योगाभ्यास को खुले दिल से और पूरी तरह से स्वीकार करते हैं।

योग का स्वरूप

ऊपर दिये गये तीसरे उद्धरण में स्वामी दयानन्द के मत में योग का स्वरूप प्राण की साधना मालूम होती है। इस मत की पुष्टि यजुर्वेद अ० ३६ का प्रसिद्ध मन्त्र संख्या १ भी कर रहा है।

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजु: प्रपद्ये।
साम प्राणं प्रपद्ये चक्षु: श्रोत्रं प्रपद्ये॥

इस मन्त्र के तीसरे पद की व्याख्या यह है कि यदि सामवेद को समझना चाहते हों तो प्राण की साधना करो। यदि आप शान्ति या शक्ति चाहते हो तो प्राणायाम करो। सामवेद शान्ति अथवा उपासना का वेद है। परमेश्वर के गुणों का गायन इस वेद के द्वारा होता है। इसी प्रकार यदि परमेश्वर की उपासना करनी है तो प्राण की साधना करो अथवा योगाभ्यास करो। किन्तु स्वामी दयानन्द जी के उपर्युक्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि परमेश्वर का साक्षात्कार केवल प्राणायाम या योगाभ्यास द्वारा नहीं होसकता। साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास के अतिरिक्त धार्मिक, विद्वान् तथा पुरुषार्थी होना भी आवश्यक है। इन चारों गुणों में से साक्षात्कार के लिए केवल एक गुण पर्याप्त नहीं है।

योगदर्शन में कहा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' चित्तवृत्तियों को इधर-उधर भटकने से रोक देना ही योग है। और चित्तवृत्तियों के निरोध का सर्वसम्मत उपाय प्राणों को एकाग्र करना या प्राणायाम की साधना है।

अधश्वसीवान् वृषभो दमूना:। ऋ. १-१४०-१०
श्वास की साधना करने वाला व्यक्ति ही

शक्तिशाली और मन को दमन करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार योगाभ्यास का आधार है प्राण-साधना। और प्राण का माहात्म्य अथर्व वेद के ११वें काण्ड के ४थे सूक्त में इतना वर्णन किया है, कि करीब करीब उसे परमात्मा सदृश ही चित्रित किया है। उस प्राण को नमस्कार है, यह दृश्यमान सारा जगत् जिसके वश में है। अ. ११-४-१। प्राण मृत्यु का भी मृत्यु है, बिमारियों के लिए बिमारी है। सब देव उसकी उपासना करते हैं। प्राण की साधना ठीक हो तो उत्तम लोक मिलता है, और साधना गलत होजाए तो मृत्यु और रोग प्राप्त होते हैं। अ० ११-४-११ हे प्राण मुझ से पराङ्मुख मत हो, मुझ से बेगाना मत बन। मैं तो अपने जीवन यापन के लिए तुझे अपने में बांध कर रखना चाहता हूं।

प्रचलित योगाभ्यास

ऊपर यह तो स्पष्ट हो चुका है कि वेद में योग का संकेत, योग के साधनों का वर्णन और उनका महत्व स्वीकार किया गया है।

किन्तु आजकल प्रचलित योग में कुण्डलिनी और चक्रों का इतना महत्व है, कि उन के बिना योग की चर्चा अपूर्ण मालूम होती है।

पायु से मेरूदण्डरूपी पर्वत पर चढ़ कर मस्तिष्क में पहुंचना और फिर वहां से पायु तक उतरना ही प्राणायाम की वह क्रिया है, जिसे योगाभ्यास का आधार कहा जा सकता है। इस आधार से लक्ष्य तक के मार्ग को सात चक्रों में कल्पना से विभक्त किया हुवा है। सब से नीचे के आधार पायुस्थित चक्र को मूलाधार चक्र कहा जाता है। इसी चक्र में कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त रूप में स्थित मानी जाती है। उसे जागृत करके सुषुम्ना के मार्ग द्वारा लक्ष्य-भूत मस्तिष्क में कल्पित सहस्रार चक्र तक पहुंचाना, ही योगाभ्यास है। और इस क्रिया के द्वारा ही मनुष्य ध्यान, धारणा, समाधि की स्थिति में क्रमशः पहुंचकर आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। और साक्षात्कार का ही दूसरा नाम मुक्ति या मोक्ष है, क्योंकि उसके बाद किसी चीज़ की इच्छा शेष नहीं रहती, जैसे स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति के बाद कुछ खाने की इच्छा नहीं रहती। और सब इच्छाओं से मुक्त होने का नाम ही मुक्ति या मोक्ष है।[1]

पायु और मस्तिष्क के मध्य हृदय है। इसमें अनाहत चक्र की कल्पना है। यह मध्य होने से जंक्शन रूप है। लोकों की दृष्टि से यह अन्तरिक्ष लोक है। मस्तिष्क द्युलोक है। पायु पृथ्वीलोक है। पृथ्वीलोक से चलकर आदमी अन्तरिक्ष लोक में आता है, उसके बाद वह चाहे तो पृथ्वीलोक में वापस आ सकता है, चाहे तो द्युलोक में जा सकता है। इसी प्रकार द्युलोक में पहुंचने के बाद लौटते हुए वह चाहे तो अन्तरिक्ष लोक में ही ठहर सकता है, और चाहे तो पृथ्वी लोक तक भी आ सकता है।

जो मनुष्य पृथ्वी लोक से उठकर ऊपर की ओर गति करता है, वह मनुष्य है। वेद के अनुसार ३ लोक अथवा ७ लोक हैं। १ भूः २भुवः ३ स्वः ४ महः ५ जनः ६ तपः ७ सत्यम्।

मनुष्य की गति भूः लोक से स्वः लोक तक अथवा मूलाधार चक्र से अनाहत चक्र तक होती है। जो व्यक्ति भूः लोक से सत्य लोक तक अथवा मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक गति करता है, वह देव है। जो व्यक्ति महः लोक में पहुंचने के बाद सत्य लोक तक जाता है और फिर लौट कर वापस महः लोक में न आकर ऊपर के ही तीनों लोकों में

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

रहता है। वह व्यक्ति शिव है। और जो व्यक्ति केवल सत्य लोक में रहता है। उस से नीचे उतरता ही नहीं, वह महादेव है। भूः लोक और महः लोक के बीच में भुवः लोक अथवा स्वाधिष्ठान चक्र और स्वः लोक अथवा मणिपूर चक्र हैं। और महः लोक और सत्यलोक के बीच में जनः लोक अथवा विशुद्धि चक्र तथा तपःलोक अथवा आज्ञाचक्र हैं। इस प्रकार वेद में जो सात भुवन, सात लोक या सात धाम हैं, वे ही आधुनिक योग में सात चक्र कहाते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति प्राणशक्ति का ही काल्पनिक नाम है। प्राण की जब साधना की जाती है तो यह चक्रों या धामों में ऊर्ध्वगति करते हुए सरल सीधा न चलकर कुण्डली सर्प की तरह से तिर्यक् गति करता है। इस लिए इस प्राण साधना को, योगाभ्यास को कुण्डलिनी का जागरण मानते हैं। जब योगाभ्यास न किया जाए, अथवा प्राण को सधाने का प्रयत्न न किया जाए तो यह प्राण मूलाधार में सुप्त पड़ा रहता है। उस अवस्था को कुण्डलिनी शक्ति की प्रसुप्तावस्था माना जाता है।

उपरोक्त मान्यतायें वेद से पुष्ट होती हैं या नहीं ? और यदि इनका वेद में वर्णन है तो वे कौन से मन्त्र हैं, जिनमें इनका संकेत है, यह आगे देखने का प्रयत्न किया जाएगा। इस से पूर्व यदि इन बातों को एक तालिका में देखें तो इसको समझना सरल हो जाएगा। मुझे यह तालिका स्वर्गीय वेदस्वामी श्री मेधारथी जी से प्राप्त हुई थी इसलिए मैं इसका नाम मेधारथी तालिका रखता हूं।

श्री मेधारथी स्वामी की योग के विषय में वैदिक तालिका

लोक	स्वर	स्थान	गायत्री	चक्र	दो वेद मन्त्र, चक्र के संयम से तेज आदि की उत्पत्ति, आयु आदि की प्राप्ति		
सत्यम्	नि	शिरः	न्यम्	सहस्रार	सत्यमसि	ब्रह्मवर्चसम्	६ साधनाओं का परिणाय सत्य (परमात्मा) में स्थिति
तपः	ध	भ्रूमध्य	रें	आज्ञा	सहोऽसि	द्रविणम्	संयमसेसहनशक्ति=सबसेबडाद्रविण
जनः	प	कण्ठः	व	विशुद्ध	मन्युरसि	कीर्तिम्	वाणी के संयम से मन्यु तथा कीर्ति
महः	म	हृदयम्	तुर्	अनाहत	ओजोऽसि	पशुम्	हृदय में पवित्रता ओज–दूर दृष्टि
स्वः	ग	नाभिः	वि	मणिपूर	बलमसि	प्रजाम्	जाठराग्नि ठीक बलवृद्धि-सन्तान
भुवः	रे	उपस्थ	स	स्वाधिष्ठान	वीर्यमसि	प्राणम	मूत्रनीरोग-वीर्य प्राणशक्तिः
भूः	स	पायु	तत्	मूलाधार	तेजोऽसि	आयुः	गुदाशुद्धि-आयु चेहरे पर तेज

इस तालिका को ध्यान से देखने से एकदम स्पष्ट हो जाता है कि --

१. शरीर के किस अंग में योग के अनुसार कौन सा चक्र है ।
२. शरीर के किस अंग को किस लोक की संज्ञा दी गई है ।
३. शरीर के किस अंग अथवा किस चक्र अथवा किस लोक से किस स्वर का सम्बन्ध है ।
४. गायत्री मन्त्र के प्रथम पाद के किस अक्षर का किस चक्र अथवा किस अंग से सम्बन्ध है ।
५. किस अंग के संयम से अथवा किस चक्र की साधना से तेज आदि किस पदार्थ की उत्पत्ति होती है ।
६. किस अंग के संयम अथवा किस चक्र में ध्यान करने से किस वस्तु की प्राप्ति होती है ।

इस तालिका के प्रथम कोष्टक को किसी खाने के प्रथम अक्षर और सत्यम् के अन्तिम अक्षर को लेकर "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र के नियम को लगा कर कुछ वैदिक शब्दों की विचित्र और नवीन व्याख्या की जा सकती है--जिस व्याख्या का स्वरूप होगा--कि इस चक्र से लेकर सहस्रार चक्र तक प्राणायाम द्वारा गति या साधना करने वाला व्यक्ति उदाहरण के रूप में कुछ शब्द नीचे दिखाये गए हैं ।

क. भूयः---भूयश्चशरदः शतात् । भू से लेकर य तक अर्थात् मूलाधार से लेकर सहस्रार तक प्राण द्वारा साधना करने वाला व्यक्ति १०० वर्ष से अधिक भी जीवित रहता हुवा, अपनी इन्द्रियों से स्वस्थ रह सकता है ।

(ख) मयः---मयः कृणोषि सूरये । ऋ. १-३१-७ ।
मृडानो रुद्रोत नो मयस्कृधि ।
ऋ. १-११४-२ ।
मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ।
ऋ. १०-४०-१०

मयः का अर्थ है सुख । लेकिन यह वह सुख है जो महः लोक से सत्यलोक तक अथवा हृदय से मस्तिष्क तक प्राणों की साधना करने वाले को मिलता है । इन्हीं लोकों में रहने वाला व्यक्ति देव कहलाता है, और यह सुख दिव्य सुख कहलाता है । इसलिए जो देव बनेंगे, उन्हीं को मयः मिलेगा । और यदि मयः--सुख की अभिलाषा है, तो पहिले देव बनना होगा ।

(ग) तपः---सप्तऋषयः तपसे ये निषेदुः ।
ऋ १०-१०९-४ ।
तपसा ये स्वर्ययुः । ऋ. १०-१५४-२ ।
त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ।
ऋ. १०-१६७-१ ।

भ्रूमध्य अथवा आज्ञाचक्र को तपः लोक कहते हैं । इसे त्रिकुटी या त्रिवेणी भी कहते हैं । मन की गति इसी लोक तक है । यहां मन-आत्मा-परमात्मा तीनों आते हैं । इस के ऊपर सत्यलोक में मन नहीं पहूंचता । वहां तो दोनों सखा ही रहते हैं । इसलिए इन तीनों मन्त्रों में तप का अर्थ होगा जो आज्ञाचक्र में प्राण का संयम करता है, वह व्यक्ति ही स्वः---सच्चे सुख को प्राप्त करता है ।

इसी प्रकार के चतुर्थ कोष्ठक में 'आदिरन्त्येन-सहेता' के नियम के अनुसार बहुत से वैदिक शब्दों की नई व्याख्या की जा सकती है । जिसके दो-तीन उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

क. तुर्वणिः--हृदय से लेकर मस्तिष्क तक प्राण द्वारा गति करने वाला व्यक्ति, जिसने देव-संज्ञा प्राप्त करली है ।
ख. तुर्वशः--हृदय को जिसने वश में कर लिया है, वह मनुष्य ।
ग. भूर्णयः--भू से नि तक गति करने वाले । जो योगाभ्यास की साधना आरम्भ करके सच्चे अर्थों में नर बन गया है ।

घ. वरेण्यम्—वरुणः—जो केवल ऊपर के तीन लोक में ही रहता है। नीचे नहीं उतरता, अर्थात् त्रिवरूथ शिव बन गया है।

ङ. नित्यः—नित्यंमृजन्ति वाजिनं धृतेन। ऋ. ५-१-७ यहां कोष्ठक २ से नि और कोष्ठक १ त्य को लेकर यह शब्द बनाया है। अर्थ हुवा जो सदा सहस्रार में ही रहता है। उस व्यक्ति को धृत=ज्ञानदीप्ति सदा शुद्ध बनाए रहती है।

प्रचलित योग और वेद

प्रचलित योग शीर्षक में जो बातें कही गई हैं, वे वेद में मिलती हैं या नहीं? ऐसा प्रतीत होता है कि जिस तरह अन्य सब विद्याओं का बीज वेद में विद्यमान है, उसी तरह योगविद्या और उसके प्रचलित अंगों का संकेत भी वेदमन्त्रों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

सामान्यतया मनुष्य का प्राण इडा या पिंगला में चलता है। प्रति १।। घंटे बाद प्राण इडा से पिंगला और पिंगला से इडा में बदलता रहता है। इस प्राण की गति को इनमें से हटा कर इन के बजाय सुषुम्ना में गति करने को ही कुण्डलिनी का जागरण माना जाता है। क्योंकि प्राण की गति प्रति १।। घंटे बाद बदलती रहती है, इस लिए योगाभ्यासी के लिए कम से कम १।। घंटे योगाभ्यास करने का विधान है। इस का कारण यह है कि जब प्राण इडा से पिंगला या पिंगला से इडा में जाने लगता है, उस समय बीच में स्थित सुषुम्णा में उसे लेजाना अपेक्षाकृत आसान होता है। और १।। घंटे में एक बार ऐसी स्थिति अवश्य आती है। इसलिए प्रत्येक बैठक में सुषुम्णा में जाने की एक संभावना का अवसर रहता है।

सुषुम्णा

डा० त्रिविक्रम ने अपनी पुस्तक में उषा सूक्त की व्याख्या की है। और उसमें 'सदने' का अर्थ सुषुम्णायाम् किया है। पं० रेवाशंकर जी सुक्रतुः का अर्थ सुषुम्णा में क्रिया करने वाला करते हैं। और स्वामी दयानन्द ने 'सीरा' युञ्जन्ति धीराः' यजुः १२-६७ की व्याख्या करते हुए धीरा का अर्थ ध्यान करने वाले योगी और सीरा का अर्थ योगाभ्यास द्वारा उपासना के लिए नाड़ियों का प्रयोग करके उनमें परमात्मा को जानने का अभ्यास करते हैं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में (सितासिते) का अर्थ इडा और पिंगला करके लिखते हैं कि जहां इन दोनों नाड़ियों का सुषुम्णा में समागम होता है, वहां स्नान करने वाले परमयोगी परमानन्द-स्वरूप प्रकाशमय मोक्ष तथा सत्य विज्ञान को प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद ५-७२-२ में अत्यायातमश्विना दस्रा हिरण्यवर्तनी सुषुम्ना सिन्धुवाहसा' तथा १०-१३-२ में ना वा मित्रावरुणा सुषुम्ना में अश्विनौ और मित्रावरुणौ का विशेषण 'सुषुम्नौ' आया है। सुषुम्ना में गति करने वाले प्राण और अपान को विशेषण द्वारा 'सुषुम्नौ अश्विनौ' कह दिया है। इससे स्पष्ट है कि वेद में इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों का जिक्र है।

सप्त चक्र

१. अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्रपुरो नि पश्चा। अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमःस केतुः॥ अ० ११-४-२२

२. अष्टाचक्रानवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्मिन् हिरण्यये कोशे पुरुषो ज्योतिषावृतः॥ अ० १०-२-३१

२. क. क्व त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो ये सनीडाः। कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः। ऋ० १-३४-६

३. पृथिव्याः सप्त धामभिः। ऋ. १-२२-१६

४. तमीं होतारमानुषक् चिकित्वांसं निषेदिरे ।
रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्त धामभिः ।।
ऋ० ४–७–५

५. तनूषु विश्वा भुवना नियेमिरे। ऋ० १०-५६.५

चक्र, भुवन या धाम एक ही बात है। पृथिवी के सात धाम का अर्थ है, इस शरीर के ७ चक्र। ये सारे भुवन धाम या चक्र हमारे शरीरों में ही नियमन करते हैं। ऋग्वेद के मन्त्र १-३४-६ में इन्हीं सात चक्रों का वर्णन है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण-रूप से ३ प्रकार से स्थित इस शरीर रूपी रथ के निचले ३ चक्र कहां हैं? और ऊपर के ३ चक्र जो शिव का नीड हैं, कहां हैं? और इन दोनों त्रिकों को बांधने वाला जंक्शन रूप हृदयचक्र कहां है? और शब्द ब्रह्म द्वारा दीप्त, शक्ति के साथ वर्तमान शिव के साथ योग-संगम कब होगा? कुछ योगाभ्यासी कण्ठ के बाद मुख में जिह्वा के मूल तालु स्थान पर सरस्वतीचक्र और मानते हैं। कुछ योगाभ्यासी हृदय और नाभि के मध्यम में सूर्यचक्र की कल्पना करते हैं। महात्मा कबीर ने हृदय के ऊपर मनोमयचक्र की कल्पना की है। कुछ योगी आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र के मध्य मृत्युचक्र की कल्पना करते हैं। इस प्रकार आठ चक्र होजाते हैं। पहिले मन्त्र में यही कहा गया है कि सुषुम्नारूपी एक धुरी में ८ चक्र विद्यमान हैं। प्र अथवा मूलाधार चक्र सबसे प्रथम है, और नि अथवा सहस्रार चक्र सबसे पिछला या अन्तिम है।

ऋषि, देव, शिव, महादेव

१. त्वमग्ने प्रथमो अंगिराऋषिर्देवो ।
देवानाभवः शिवः सखा । ऋ. १-३१-१ ।

२. सप्तधामानि परियन्नमर्त्यः । ऋ. १०-१२२-३

३. अध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवोभव । ऋ. ६-१५-६

४. सोऽवर्धत स महानभवत् समहादेवो ऽभवत् ।
अ० १५-१-४

जो मनुष्य इस योग मार्ग पर चलना प्रारम्भ करता है, वही अग्नि-मनुष्य कहाने का अधिकारी है। उसी को पहिले अंगिरा ऋषि की संज्ञा दी जाती है। उसके बाद जो सातों धामों या चक्रों में गति करने लगता है, उसे अमर्त्य या देव समझना चाहिये। जो केवल उपरले ३ लोकों को ही अपना घर बनाए रखता है नीचे उतरता ही नहीं उसकी त्रिवरूथ, शिव संज्ञा हो जाती है। जो नर से बढ़ कर देव बन चुका है, और देवों से बढ़ कर शिव बन गया है। वही उन्नति करते २ जब केवल सातवें लोक में ही विचरने लगता है, तब बढ़ते २ वही महादेव कहलाने लगता है। हमारा यही लक्ष्य है कि पहिले नर (अग्नि) या ऋषि बनें, फिर देव बनें, तदनन्तर शिव बनें और अन्त में महादेव पद को प्राप्त करलें।

कुण्डलिनी

१. ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननुतिर्यङ्निपद्यते ।
अ० ११–४–२५

२. पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि ।
आ तू न इन्द्र शंसय । ऋ. १-२६-६

प्राण की सामान्य गति तिर्यक् रूप में चलती है। मनुष्य जब सोया रहता है तब भी वह जागता रहता है और नि अर्थात् सहस्रार तक गति करता है, किन्तु उसकी यह गति टेढ़ी होती है। (वातः) प्राण सामान्यतया कुटिलगति से ही दूर तक जाता है। इसी प्रकार सांप भी सदा दूर-दूर तक तिर्यक् अथवा कुटिलगति से ही चलता है। इसलिए प्रसुप्त प्राण शक्ति की उपमा कुण्डलिनी सर्पिणी से दी गई है। जिस प्रकार सांप बिल में सीधा प्रविष्ट होता है। उसी प्रकार यह प्राण भी जब जागृत हो जाता है, और सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है, तब इसकी गति भी सीधी, सरल हो जाती है। इसमें प्रवेश करने वाले प्राणों की महिमा महान् है 'एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति' ऋ. १-१६-७जिस ऋषि या राजा को

ये सुख देते हैं, वह न जीर्ण होता है, न मरता है न उसकी हिंसा होती है, न दु:खी होता है, न क्रोध करता है, न इसका ऐश्वर्य या रक्षण कभी शिथिल होता है। "न स जीयते मरुतो न हन्यते, न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति। नास्य रायउपदस्यन्ति नोतय ऋषिवायं राजानं सुषूदथ: ।। ऋ. ५-५४-७

द्वितीय मेधारथी तालिका

भू:	पुनातु	शिरसि	सत्यम्	सहसार	ण्यम्	निस्	म् अ आनन्द द्यौ–आनन्दकोश
भुव:	पुनातु	नेत्रयो:	तप:	आज्ञा	रे	अव	
स्व:	पुनातु	कण्ठे	जन:	विशुद्धि	व	अनु	
मह:	पुनातु	हृदये	मह:	अनाहत	तुर्	सम्	उ उ, चित् अन्तरिक्ष-मनकोश
जन:	पुनातु	नाभ्याम्	स्व:	मणिपूर	वि	अप	
तप:	पुनातु	पादयो:	भुव:	स्वाधिष्ठान	स	परा	
सत्यम्	पुनातु	शिरसि	भू:	मूलाधार	तत्	प्र	अ म् सत् पृथिवी अन्नकोश

इस तालिका को ध्यान में रखने से एक बात यह अनुभव होती है, कि वेद के जिन शब्दों को पादपूरक एक तरह से अनर्थक माना जाता है, वे पादपूरक न होकर किसी योग के रहस्य को अपने अन्दर समेटे हुए हैं। यह युक्ति से ठीक लगता है, कि यदि वेदवाणी पूर्ण ब्रह्म की पूर्ण वाणी है, तो उसमें अनर्थक पादपूरक शब्द उसकी पूर्णता पर आक्षेप है। वास्तव में हम अपने अल्पज्ञान के कारण उस का अर्थ न समझकर उन्हें पादपूरक कह देते हैं।

दूसरे इन अक्षरों तथा 'आदिरन्त्येन सहेता' के नियमानुसार इन से बने हुए शब्दों के योगपरक अर्थ के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। इन को देखने से वेदों के अर्थों में कहीं २ तो चमत्कार प्रतीत होता है। और कभी लगता है कि वास्तव में वेदों में अनन्त ज्ञान भरा हुवा है। जिसमें जितना सामर्थ्य और ज्ञान है, वह उतना अर्थ देख और समझ सकता है।

नि=सहस्रार=सत्यम्=शिर

१ उद्यद्ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि।
मध्व: पीत्वा सचेवहि त्रि: सप्त सख्यु: पदे ।।
ऋ ८-६९-७

(ब्रध्नस्य विष्टपम्) सूर्य के स्थानरूपी गृह में —द्युलोक में मस्तिष्क में=नि=सत्यलोक में= (सख्यु: पदे) सखा परमात्मा के निवास स्थान में (उद् यद् गन्वहि) जब ऊपर उठकर मैं तथा इन्द्र वहां पहुंचते हैं (त्रि: सप्त मध्व पीत्वा सचेवहि) २१ बार प्राणायाम रूपी मधुपान करके इकट्ठे मस्त होते हैं। स्वामी दयानन्द जी ने २१ बार प्राणायाम करने का संस्कारविधि में संकेत भी किया है।

२. आतू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्।
अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ।। ऋ. ८-६९-७

यहां द्युक्षं=चमकीला, अरुषम्=आरोचमान, देदीप्यमान, अनेहसम्=पापरहित, स्वस्तिगाम्= कल्याणदायि, सहस्रपादम्=सहस्रारचक्र, हिरण्ययम्=प्राण स्वरूप सुवर्णदीप्तियुक्त स्थान निया सत्य लोक ही है। इस रथरूपी शरीर में सवार होकर, अपने मस्तिष्क को सदा ठीक रख कर यदि नर इस

शरीर गृह का स्वामी बन कर सहस्रार में पहुंचेगा तो वहां नर और नारायण अथवा जीव और ब्रह्म या आत्मा और परमात्मा का सखा रूप में मेल संगमन अवश्य होगा ।

इसके अतिरिक्त सहस्रधारं, सहस्रद्वारं आदि-शब्दों का प्रचुर प्रयोग है । ये सब शब्द सहस्रार चक्र का ही निर्देश करते प्रतीत होते हैं ।

रे=आज्ञा=तपः=नेत्रयोर्मध्य

१. अस्मा अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिन् चित्राभिरूतिभिः । ऋ ८-७०-६

आज्ञाचक्र ही इन्द्रियों का व्रज है—गोमति-व्रजे=गोष्ठे । क्योंकि मन तथा इन्द्रियों की गति इसी चक्र तक है । इससे आगे वे नहीं जा सकतीं । इसलिए भक्त प्रार्थना करता है कि (मघवन् वज्रिन्) हे ऐश्वर्यो के स्वामिन् तथा दुष्टों और पापों को वज्र से चूर्णित करने वाले प्रभो (चित्राभिः ऊतिभिः) चित्—ज्ञान को देने वाली तथा तृप्ति करने वाली गतियों के द्वारा हमारी इच्छाओं को इस आज्ञाचक्र में (गोमति व्रजे) तृप्त कर दे । इस चक्र के बाद इच्छाएं, तथा भेदज्ञान समाप्त हो जाना है, इसलिए तृप्ति की प्रार्थना है अन्यथा आगे गति रुक जाएगी । कभी भी नि में नहीं पहुंच सकेगा । अव=तृप्ति, गति, इच्छा आदि ।

२. त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि ।
कामभिन्मे मघवन्मावितारीस्त्वमाज्ञाता त्व-मिन्द्रासि दाता ।। ऋ.१०-५४-५ ।

इस मन्त्र में 'आज्ञाचक्र' का स्पष्ट जिक्र तो नहीं है । किन्तु आज्ञाता और दाता शब्द आए हैं । जो आज्ञाचक्र का संकेत करता है । इसे सब कामनाओं की पूर्ति और सब प्रकट या तिरोहित वस्तुओं का धारण करने वाला, और उनका दाता कहा है । यह सारी क्रिया इस चक्र में पहुंचने का परिणाम ही है । यहां पहुंचने पर दिव्यदृष्टि खुल जाती है और सब इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं । जब तक कोई इच्छा शेष रहती है, इसके आगे गति संभव नहीं ।

व—विशुद्ध—जनः—कण्ठ

१. प्र व इन्द्राय बृहतेमरुतो ब्रह्मार्चत ।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ।
ऋ. ८-८९-३

वज्रेण शतपर्वणा—१०० पोरियों वाला वज्र हमारा मेरुदण्ड है । इसी में सुषुम्णा मार्ग द्वारा सैंकड़ों वार क्रिया करने वाला व्यक्ति शतक्रतु बनता है । शतक्रतु ही स्वयमेव अनायास ही सब पापों दोषों, कमियों को नष्ट करने में समर्थ बन जाता है । इसलिए इस मन्त्र में कहा है कि (मरुतः) हे प्राणों की साधना करने वाले साधकों, उपासकों (बृहते इन्द्राय) उस परमैश्वर्यसम्पन्न ब्रह्म के लिए (ब्रह्मार्चत) सामलक्षण स्तोत्रों द्वारा पूजा करो । साम प्राणं प्रपद्ये अर्थात् प्राणायामद्वारा उपासना करो ।

इस शतपववज्र=मेरुदण्ड के उपरि भाग में विशुद्ध चक्र है । जो यहां तक प्राणायाम द्वारा पहुंचता है, उसकी सब बुराइयां कमियां दूर हो जाती हैं । वह विशुद्ध बन जाता है ।

२. इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ।।
९-९५-९

इस चक्र में जो व्यक्ति पहुंचता है, उसे रयि, रत्न और वाजरूप में समृद्धि प्राप्त होती है । सब विघ्न बाधायें, पाप रोग, दोष नष्ट हो जाते हैं । इस चक्र में पूर्ण शुद्धि होने के बाद अगले चक्र में पहुंच कर देव दिव्यदृष्टि के अधिकारी बनते हैं ।

तुक्—अनाहत—महः हृदय—३

१. परि नो हेडो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवदु लोकम् । ऋ. ७-८५-२

वरुण का क्रोध हमें छोड़ देवे, और इन्द्र हमारे ३ लोकों को उरुं=विशाल, महान् तथा उदार बनावे। जब तीन लोकों की कल्पना की जाती है तब हृदय=अन्तरिक्ष=३। (अउम्) की दूसरी मात्रा ३ ही अन्तरिक्ष है।

जिनका हृदय छोटा तथा संकुचित होता है, समझना चाहिये, उन पर वरुण का क्रोध पड़ा है।

२. तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्यभोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥
ऋ ५-८२-१

हृदय प्रदेश में रहने वाले, भगवान् देव सविता के सर्वधारक श्रेष्ठ भोजन-भोग्यदायक-धन (उदारता एवं विशालता) को हम वरण करते हैं, और अपने अन्दर धारण करते हैं।

३. इमे मा पीता यशस उरुष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु। ते मारक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मास्रामाद्यवयन्त्विन्दवः॥ ऋ. ८-४८-५)

मैं यदि सोमकणों को अच्छी तरह से पीकर इनकी अपने अन्दर रक्षा कर लूंगा तो ये मुझे यश दिलायेंगे, मेरी रक्षा करेंगे और मुझे अनाह पर्व=अनाहतचक्र=महलोक में ऐसे आसानी से पहुंचा देंगे जैसे बैल रथ को खींच पर्व त्यौहारों में लक्ष्य स्थान तक पहुंचा देते हैं। इस लोक में पहुंचकर ही नरदेव पदवी प्राप्त करता है। और फिर ये (इन्दवः) वीर्यकण चरित्र के पतन से रक्षा करते हैं, और शरीर की व्याधियों को दूर भगा देते हैं।

वि--मणिपूर=स्वः=नाभिः

१. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। ऋ १-२४-१५।

यहां सायण ने (मध्यमम्) का अर्थ किया नाभिप्रदेशस्थित पाश को वि में शिथिल करो। मध्यम स्थान वि है।

२. व्यानन्नयज्वानःसनकाः प्रेतिमीयुः। ऋ. १-३३-४

जो यज्ञभावनाशून्य, वृत्र के अनुचर होते हैं, वे वि--नाभि प्रदेश में आजाते हैं। अर्थात् जिह्वा के संयम को छोड़कर भोगी बन जाते हैं, रोगी बन जाते हैं, और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। वि-- नाभि-- पेट--मणिपूर चक्र के संयम के बिना आगे गति संभव नहीं।

३. विचरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः
ऋ. १-३६-३।

यदि त्रि--मणिपूर या पेट में जाठराग्नि की लपटें गति शील रहेंगी, तो द्युलोक या मस्तिष्क में ज्ञान किरणें सदा स्पर्श करती रहेंगी, साथ रहेंगी। यदि जाठराग्नि ठीक नहीं होगी तो ज्ञानाग्नि भी दीप्त नहीं होगी।

स=स्वाधिष्ठान=भुवः=उपस्थ

१. गोजिन्नः सोमो रथजिद्धिरण्यजित् स्वर्जिदब्जित्पवते सहस्रजित्। यं देवासश्चक्रिरे पीतये मदं स्वादिष्ठं द्रप्समरुणं मयोभुवम्॥
ऋ. ९-७८-४।

(देवासः) सातों लोकों में गति करने वाले देवलोग (मदं) मस्ती को देने वाले (मयोभुवम्) सुख की वर्षा करने वाले (द्रप्सम्) रसमय द्रवस्वरूप (अरुणम्) कान्ति को देने वाले सोम को (पीतये) पीने के लिए अपने अन्दर रक्षित करके ऊर्ध्वरेता बनने के लिए (स्वादिष्ठम्) सबसे अधिक स्वाद देने वाले उपस्थेन्द्रिय को, और तात्स्थ्य उपाधि से स्वाधिष्ठान को (चक्रिरे) चक्र बनाकर वहां अपनी क्रिया को प्रारम्भ करते हैं। स्वादिष्ठम् वाली बात को बृहदारण्यक उपनिषद् में "सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्" सब आनन्दों का उपस्थ ही

एकमात्र साधन है=द्वारा पुष्ट किया है। इसी प्रकार इस मन्त्र के गो, रथ, हिरण्य, स्वः, अप तथा सहस्र शब्द भी शेष ६ चक्रों का निर्देश करते हैं। सहस्र तो सहस्रार चक्र है। गौ–भूः मूलाधार चक्र। स्वः=नाभि=मणिपूरचक्र। हिरण्य=द्रविण की प्राप्ति होती है आज्ञाचक्र में, इसलिए हिरण्य= आज्ञाचक्र अप=जल का सम्बन्ध समुद्र अथवा अन्तरिक्ष से है इसलिए अप् महः=हृदयान्तरिक्ष= अनाहतचक्र पारिशेष्यात् रथ=कण्ठ=विशुद्धचक्र।

तत्=मूलाधार=भूः=पायु

१. तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीवचक्षुराततम्। ऋ. १-२२-२०।
२. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। ऋ. १-२२-२१
३. विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः। ऋ. १-१५४-५
४. अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि। ऋ. १-१५४-६।
५. त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च। ऋ. १०-८७-१०
६. प्रभूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम्।

ऋ. १०-४६-५।

१. विष्णु का परम पद, द्युलोक में सूर्य के समान सदा दीप्त रहता है, वह तद् अर्थात् मूलाधार या सहस्रार में स्थित है, और विद्वान् योगाभ्यासी उसे सदा देखने का प्रयत्न करते हैं और देखते रहते हैं।

२. तद्=मूलाधार या सहस्रार स्थित विष्णु के परम पद, को मेधावी, कर्मठ सदा जागरूक योगाभ्यासी प्रदीप्त करते रहते हैं।

३. उस विष्णु के परम पद में माधुर्य का निर्झर सदा झरता रहता है।

४. प्राण साधना के द्वारा शक्ति सम्पन्न मनुष्य का मूलाधार तथा सहस्रार सदा भास्वर रहता है।

५. कुण्डलाकार प्रसुप्त सर्परूप यातुधान के तीनों शरीरों में स्थित मूल को तू काट डाल। उसकी निद्रा को भंग करके उसे जगा दे। कुण्डलिनी का जागरण या प्राणशक्ति का जागरण यही है। इस कुण्डलिनी के ३ कुण्डल माने गए हैं। ये तीन शरीरों के ही प्रतीक हैं। इस लिए यदि जानना है, तो इन तीनों को काटना आवश्यक है।

६. भूलोक को जीतने वाले, और विजय के द्वारा महान् तथा मेधावी बनकर सब लोकों का ध्वंस करने वाले अमूरं=अमूढ़ एवं अमर ब्रह्म को पाने के लिए प्र=मूलाधार में प्रयत्न शील होकर सहस्रार में प्राप्त करते हैं।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेदों में योग तथा योगाभ्यास का निर्देश तथा विधान दोनों हैं। केवल मात्र निर्देश ही नहीं, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के प्रायः मन्त्रों में कोई ना कोई ऐसा रहस्य तिरोहित रहता है, जिसे योग की क्रियाओं और परिभाषाओं के ज्ञान के बिना समझना कठिन ही नहीं, असंभव है।

यदि योग की क्रियायें परिभाषाएं और ज्ञान हृदयंगम हों तो हरेक मन्त्र में से कुछ न कुछ नया रहस्य प्रकट होता प्रतीत होता है। दो-तीन शब्दों के यहां उदाहरण दिये जाते हैं। कभी अवसर हुवा तो इस दृष्टि से कुछ मन्त्रों का अर्थ और उस से प्रकट होने वाले रहस्यों का दिग्दर्शन फिर किसी स्वतन्त्र लेख में दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा।

सस्नि र्योऽनुमाद्यः। ऋ. ९-२४-४।

जो व्यक्ति सस्नि=शुद्ध है वही आनन्द प्राप्त करने के योग्य है। सस्नि=ससेनि तक मूलाधार

से सहस्रार तक गति करने वाला व्यक्ति ही सस्नि:= शुद्ध होता है ।

२. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि: । ऋ. ५-११-१

जन:--नाभिचक्र का, गोपा:, रक्षक=अन्न-मयकोश का विजेता मनुष्य ही जागरूक बन सकता है ।

३. हरिव:--इन्द्रियों को वश में करने वाला-जितेन्द्रिय ।

४. वयम्--व से य तक--कण्ठ आज्ञा--सहस्रार--इन तीनों चक्रों में गति करने वाला व्यक्ति ही वरेण्यम्=वरुण=त्रिवरूथ-शिव बनता है । इसलिए यदि हम शिव बनेंगे तभी (वयम्) शब्द द्वारा की हुई प्रार्थना या इच्छा को पूरा कर सकेंगे ।



वेद में योग साधना के संकेत

श्री उदयवीर शास्त्री

आध्यात्मिक उन्नति व शाश्वत दु:ख निवृत्ति एवं आनन्द प्राप्ति के लिये प्राचीन ऋषि-मुनियों तथा अनुभवी आचार्यों ने जिस मार्ग का उपदेश किया है, वह है—योग-समाधि का प्राप्त करना। यह योग अथवा समाधि मन की स्थिरता-निर्विषयता पर अवलम्बित है। मन इन्द्रियों का जमादार है, और अन्तरात्मा का सेवक, क्योंकि इन्द्रियां शरीर में बाहर को खुली हैं, वे सदा वाह्य विषयों की ओर स्वभावतः प्रवृत्त रहती हैं। उनकी इस प्रवृत्ति में मन पूरा सहयोग देता है। मन इतना तीव्र व चञ्चल है, कि वह दसों इन्द्रियों के सहयोग के लिये अकेला ही, काफी रहता है। प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने विषय एक—दूसरे से भिन्न हैं, पर मन के लिये उन विभिन्न विषयों के आदान में कोई बाधा नहीं रहतीं, इन्द्रियों के द्वारा मन सभी विषयों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है। इससे मन की तीव्र व चञ्चल स्थिति तथा उसकी आश्चर्यजनक रचना का अनुमान होता है।

ऐसे चञ्चल व तीव्र मन का स्थिर व निर्विषय करना कोई मजाक नहीं। अनुभवी आचार्यों ने इसके लिये जो उपाय सुझाये हैं, उनका मूल वेद में उपलब्ध होता है। इस विषय के कतिपय मन्त्र दिग्दर्शनमात्ररूप में यहां प्रस्तुत किये जाते हैं। एक मन्त्र इस प्रकार है।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है (सविता) ऐश्वर्य-ज्ञान ऐश्वर्य आनन्द ऐश्वर्य की अभिलाषा रखने वाला पुरुष (तत्त्वायं) तत्त्व ज्ञान के लिये (प्रथमं) पहले, अथवा विभिन्न विषयों में फैले हुए (मनः) मन को, मन के व्यापार को एवं मननात्मिका अन्तःकरण वृत्ति को, तथा (धियः) धारणात्मिका बुद्धि, बुद्धिवृत्तियों को (युञ्जानः) योग-प्रक्रियाओं द्वारा समाहित करता हुआ (अग्नेः) सर्वाग्रणी, प्रकाश स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक प्रभु (ज्योतिः) ज्ञान प्रकाश व आनन्दाविर्भाव को (निचाय्य) निश्चित रूप से जान व प्राप्त कर (पृथिव्याः) पृथिवी के लिये, सांसारिक समस्त जनों के लिये, अथवा पूर्ण विस्तार के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (आ) सब ओर, सब प्रकार से (भरत्) धारण करता है।

तत्त्वज्ञान द्वारा आनन्द प्राप्ति का अभिलाषी पुरुष योग समाधि से मन को—अन्तःकरण को प्रकाश स्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा के साथ जोड़कर उस ज्ञान व आनन्द को प्राप्त करता, और उसे जनता के लिये प्रसारित करता है।

योग की विधि और योग का प्रयोजन दोनों इस मन्त्र में संकेत द्वारा बतला दिये गये हैं। योगदर्शन में योग का स्वरूप बताया है—'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' चित्त-अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध—रोकना योग है। यहां चित्तवृत्तियों का रोकना लिखा है, इन्द्रियवृत्तियों का रोकना नहीं लिखा। वस्तुतः बाह्य विषय व्यापार में इन्द्रियों की सार्थकता इसी बात पर अवलम्बित रहती है, कि इन्द्रियों के साथ मन एवं अन्तःकरण का सम्बन्ध बना रहे। यदि अन्तःकरण का सम्बन्ध इन्द्रियों से नहीं रहता है, तो इन्द्रियां बाहर को खुली रहने पर तथा विषय के साथ सम्बन्ध रहने पर भी वह विषय के ग्रहण करने व पकड़ने में असमर्थ

रहती हैं। अतः बाहर विषयों की ओर फैलने के लिये इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण का सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है। यदि अन्तःकरण को उधर से हटाकर अन्तरात्मा की ओर लगा दिया जाता है, तो इन्द्रियां आत्मा को विषयों की ओर आकर्षित करने के लिये बेकार हो जाती हैं। इसी लिये सूत्र में इन्द्रियों की उपेक्षा कर चित्त–अन्तःकरण के निरोध का उल्लेख किया गया है।

सूत्रगत यह निर्देश पूर्णरूप से मन्त्रमूलक है, मन्त्र में 'मन' और 'धी–बुद्धि' को समाहित करने का उपदेश है। वे ही तो अन्तःकरण हैं। फलतः योगमार्ग के यात्री को अन्तःकरण वृत्तियों का निरोध करना परमावश्यक है। इसी भाव को मन्त्र ने स्पष्ट किया है–'प्रथम मनः धियः युञ्जानः'।

योग का प्रयोजन बताने के लिये मन्त्र में 'तत्त्वाय' पद है। तत्त्व–वस्तु का यथार्थ स्वरूप-स्वभाव जानना हो तो योग का अनुष्ठान करना अपेक्षित होगा। योगानुष्ठान से बुद्धि–अन्तःकरण 'ऋतम्भरा' नामक स्थिति में पहुंच जाता है। 'ऋत' समस्त विश्व की उस व्यवस्था का नाम है, जिसे प्रभु परमात्मा ने स्थापित किया है, तथा जिससे नियन्त्रित होता हुआ यह विश्व यथायथ-रूप में चालू रहता है। उस 'ऋत' की स्थिति को समाहित योगी की बुद्धि समझने लगती है; उसी का नाम 'ऋतम्भरा' है, तब योगी उस 'ऋत' के प्रतीक में परमात्मा के प्रकाश स्वरूप को समझने की दिशा में प्रवृत्ति के लिये सक्षम हो जाता है।

इसी कारण योग के मर्मज्ञ पूर्ण अनुभवी महर्षि पतञ्जलि ने 'ऋतम्भरा' के विषय में कहा है–'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' बुद्धि की यह ऋतम्भरा अवस्था श्रुतज्ञान और अनुमानज्ञान आदि से सर्वथा विलक्षण होती है; क्योंकि श्रुत–शब्द और अनुमान तो वस्तु का सामान्य–साधारण ज्ञान कराते हैं। परन्तु यह बुद्धि वस्तु का विशेष ज्ञान कराती है, जो 'विशेष' वस्तु का यथार्थ स्वरूप है। उसी के कारण वह वस्तु अन्य पदार्थों से व्यावृत्त हुई केवल अपने रूप में व्यवस्थित रहती है। इस प्रकार बुद्धि की 'ऋतम्भरा' अवस्था प्राप्त हो जाने पर उससे वस्तु का ज्ञान परम प्रत्यक्ष है। वह प्रत्यक्ष की चरम सीमा है; जो योग के बिना संभव नहीं। इसी तत्त्वज्ञान के लिये मन्त्र में योग का विधान बताया है।

योगी दो प्रकार के बताये जाते हैं–'युक्त' और 'युञ्जान'। पहला युक्त,सदा जो प्रभु के ध्यान में लीन रहता है, तथा जिसने योग–समाधि की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लिया है। दूसरा युञ्जान वह है, जो यत्नपूर्वक निरन्तर अभ्यास से तत्त्वदर्शन–आत्मदर्शन प्राप्त कर लेने में संलग्न है। साधारण कोटि से कुछ उठे हुए पुरुष ही 'युञ्जान' बन सकते हैं। ऐसा व्यक्ति 'युञ्जान' दशा के बाद किसी समय अनवरत अभ्यास से 'युक्त' बन जाता है। इसी कारण प्रस्तुत मन्त्र में 'युञ्जानः' पद से संकेत द्वारा इस स्थिति को प्रथम प्राप्त करने का उपदेश किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण (६।३।१।१३) में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है–'तत्त्वाय सविता धिय इति–मनो वै सविता प्राणा धियः।' इसके अनुसार मन-बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण के निरोध के साथ 'प्राण' के निरोध का भी तात्पर्य प्रकट होता है। यह एक रहस्यपूर्ण बात है। इसमें समझना

चाहिये, कि मन और प्राण का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। ध्यान-योग अथवा औपनिषद उद्गीय आदि की उपासना–साधनों से यदि मन का उपयुक्त निरोध होजाय, तो प्राण स्वतः वशीभूत हो जाते हैं; उनकी अनियमित-अनियन्त्रित गति न रहकर ध्यान में उनसे किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। यह योगमार्ग की एक उत्तम स्थिति है। इस प्रकार मन और प्राणों के रुकने से अन्य समस्त वृत्तियां शान्त हो जाती हैं।

यदि किसी कारण से प्रथम मन एवं अन्तःकरण के निरोध में बाधा आये; और अति चञ्चल होने के कारण मन के रोकने में कठिनाई का अनुभव हो, तो उस स्थिति में लक्ष्यप्राप्ति के लिये प्राण का सहयोग लेना चाहिये। तात्पर्य है, इस दशा में प्राणायाम का तीव्र व निरन्तर अभ्यास प्राणों को संयन कर मन के स्थिर व एकाग्र करने का अचूक उपाय है। मन के शान्त रहने पर इन्द्रियां भी विषयों की ओर खिचना कम कर देती हैं, कारणों की इस उपरति से व्यक्ति को शान्ति व सन्तुष्टि का लाभ होता है।

सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है, कि प्राणायाम से लेकर समाधिपर्यन्त योग के पांच अङ्गों का उपदेश इस मन्त्र के द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। यम-नियम का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये लाभदायक सुफल-प्रद रहता है। आसन योगाङ्ग योगमार्ग पर चलने वाले के लिये अनिवार्य है।

इस विषय में अन्य कतिपय मन्त्र इस प्रकार है–

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥

(वयम्) हम (युक्तेन) युक्त–योग समाधि सम्पन्न (मनसा) मन से तथा (शक्त्या) शक्ति से (सवितुः) विश्व के उत्पादक, सर्वैश्वर्यसंपन्न, सर्व-प्रेरयिता ((देवस्य) दिव्य, शुभगुण प्रदाता प्रभु के (सवे) इस उत्पादित संसार में (स्वर्ग्याय) सुख साधक कार्य के लिये (परमात्मप्रकाश को धारण करते है)।

योगी की दो अवस्था-युक्त और युञ्जान-की चर्चा गत पंक्तियों में की गई है। उस मन्त्र में 'युञ्जान' का संकेत है, और यहां 'युक्त' बनने की प्रेरणा की गई है। उसके लिये दो साधन बताये, जिनसे परमात्मप्रकाश प्राप्त होता है। एक–योग संलग्न मन। दूसरा–शक्ति। शक्ति से दोनों प्रकार की शक्ति समझना चाहिये,–शारीरिक और आत्मिक। दुर्बलशरीर, दुर्बलेन्द्रिय, पतितात्मा व्यक्ति अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में कभी सफल नहीं हो सकता। अतः सब प्रकार की शक्ति का सतत संचय करना आवश्यक है, जिसका आधार योग है–'नास्ति योगसमं बलम्'। योग के समकक्ष अन्य कोई बल–शक्ति नहीं है। योग सम्पन्न व्यक्ति के लोक–परलोक दोनों सुधार जाते हें।

अन्य एक मन्त्र है––

युञ्जते मन उत युञ्जते धियोऽविप्र।
विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्,
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

(होत्राः) दान–आदानशील (विप्राः) मेधावी जन (विप्रस्य) परम मेधावी, प्राणियों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले (बृहतः) महान (विपश्चितः) परम ज्ञानी प्रभु की प्राप्ति के लिये

(मनः) मन को, अन्तःकरण को (युञ्जते) योग समाधि सम्पन्न बनाते हैं, (उत) और (धियः) प्राणों को (युञ्जते) योगयुक्त करते हैं। क्योंकि वह परमात्मा (एकः) अकेला (इत्) ही (वयुनावित्) कर्मों और ज्ञानों को; आचार और विचारों को जानने वाला है। वही (वि-दधे) विविध प्रकार की सृष्टि एवं पदार्थों को धारण करता है। (सवितुः) सकल जगदुत्पाक, सर्वसुखप्रदाता (देवस्य) दिव्यगुण सम्पन्न प्रभु की यही (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) स्तुति है।

जगन्नियन्ता परमात्मा शक्ति में सबसे महान और ज्ञान में सर्वोच्च है। इसी कारण योगमार्ग का प्रेमी जिज्ञासु व्यक्ति शक्ति व पूर्णज्ञान की प्राप्ति के लिये उसी प्रभु की स्तुति करता है। वेद बताता है—परमात्मा की सब से बड़ी स्तुति यही है, कि मनुष्य उसके गुण और कर्म जानकर उन्हें प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहे। प्राप्ति का उपाय मन्त्र में बताया—योग द्वारा मन का निरोध करना, तथा प्राणायाम आदि योगाङ्गों के अनुष्ठान से अन्तर्वृत्ति-स्थिति का प्राप्त करना। यही उस प्रभु की यथार्थ व बड़ी स्तुति है।

प्राणियों के आचार-विचार प्रभु से कभी छिपे नहीं रहते। वह सर्वनियन्ता जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार-सृष्टि में अनन्त विभूतियों की उपलब्धि के द्वारा-शुभाशुभ फल दिया करता है। प्रभु के इस गुण को जानकर मानव उसकी ओर आकृष्ट रहे। जीवन का यही परम लक्ष्य है।

वेदों में योग-विषयक उपदेश पर्याप्त हैं। दिग्दर्शमात्र यह प्रस्तुत किया है।

---★--

आद्यक्षराणि संगृह्य निरुक्तिः

श्री डा० मञ्जुल मयकं पन्तुलः वेद-व्याकरणाध्यापकः विश्वभारती, शान्ति निकेतनम्

संस्कृतभाषायां प्रचलितेषु शब्दनिरुक्तिप्रकारेषु, नितरां कुतूहलकरोऽपरोऽपि निरुक्तिप्रकारः दृश्यते, यदाश्रयः शब्दः पदान्तराणामाद्यक्षराणि, संगृह्य निरुच्यते । यत्र तत्र उपलभ्यमानानां प्रायः सर्वविज्ञातानां केषाञ्चित् "उशरट,१" "अप्रशिख"२ "कायस्थ"३ "पुरोहित"४ शब्दानामाद्यक्षरसंग्राहिकया निरुक्त्या आह्लादकत्वप्रयोजनमेव केचन मन्येरन्, किन्तु नैतादृश्यो निरुक्तयः सर्वथाप्याह्लादकत्वकारणानि एव अपितु शब्दानां निरुक्तेरितिहासे काञ्चन सुप्रथितां मौलिकीं परम्परामपि द्योतयन्ति । कालिदासेन, वितर्कवाचिनः 'उ'पदात्५ प्रतिषेधार्थीयान्मश्च, दर्शिता उमाशब्दस्य निरुक्तिरन्यतमा, याञ्च अभिनवां केचन मन्यन्ते ।

अनया च आद्यक्षरसंग्राहिकया निरुक्त्या अर्थात् पदान्तराणामाद्यक्षराणि समाहृत्य निरुच्यमानस्य शब्दस्य रूपकल्पनया—भूपः, नारी, मदः, निद्रा, आगमः, गुरुः, आचार्यः, वेदः, सम्प्रदायः, पादुका, पुराणम्, इतिहासः, प्रभृति नैके शब्दा उपपरीक्षितुं शक्यन्ते, ये च इतरथा निरुक्तैः शब्दैः अर्थतो भिद्यन्ते ।

"भूप"६ शब्दश्च अयं, प्रसङ्गपराधीनेन अनिर्ज्ञातनाम्ना केनापि कविना "भूखण्डमात्रविभवः" "परसेवकश्च" पदयोः आद्यक्षरे संगृह्य निरुक्तः । तथैव साहित्यविलासिना इतरेण, "नारी"७ शब्दः "नृणाति नयति स्ववशं पुरुष" मित्यस्मात् पारम्परीणात् अर्थात् अपनीय, नान्दी-रतिपदयोः आद्यक्षराभ्यां निरुक्तः ।८

भावप्रकाशनकारः शारदातनयः "मद" शब्दस्य निर्वचनं, मानार्थकस्य म—शब्दस्य मकारात्, दानशब्दस्य च दकारात्, "निद्रा"९ शब्दस्य

---

१. उमया सहितो रुद्रः शंकरः शूलपाणिभृत् ।
रक्षतु त्वां महीपाल, टंकारबलगर्वितः ।।

२. अनेन तव पुत्रेण, प्रकर्षेण वनान्तरे ।
शिखामादाय हस्तेन, खड्गेन निहतं शिरः ।।

३. काकाल्लौल्यं यमात्क्रौर्यं स्थपतेर्दृढधातिताम् ।
आद्यक्षराणि संगृह्य कायस्थः केन निर्मितः ।।

४. पुरीषस्य च रोषस्य हिंसायास्तस्करस्य च ।
आद्यक्षराणि संगृह्य वेधाश्चक्रे पुरोहितम् ।।

५. उः.....वितर्केऽपि वचनावसरेऽव्ययम् ।
आ निपातो निषध कः ।
विश्वशम्भु प्रणीता एकाक्षरनाममालिका ।।
पृ०२—५० ।

६. यः कुन्तपाणिरिह भूप इति प्रसिद्धो,
भूखण्डमात्रविभवः परसेवकश्च ।
तस्यात्मजः सततमिच्छति राजशब्दं,
व्रीडे ! जगज्जननि हन्त ! निराश्रयासि ।।

७. नान्दी पदानि रतिनाटकविभ्रमाणा—
माद्यक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः,
सीत्कारशुष्क रुदितानि जयन्ति नार्याः ।।

८. म-शब्दार्थो मतिर्मानिस्तद्दानात्खण्डनान्मदः ।।
भावप्रकाशनम् २।५

९. (इन्द्रियाण्येव) निमीलन्ति द्रागेव युगपद्यतः ।
तस्मान्निद्रेति कविभिः कथ्यते भावकोविदैः ।।
भावप्रकाशनम् ।

"निमिलन्ति" क्रियायाः "नेः" "द्राक्" पदस्य च द्रः, "त्रपा"शब्दस्य "त्रयं"१० पदस्य त्रात् "पाति" क्रियायाश्च पः प्रभृत्याद्यक्षराभ्यां कृतां निरुक्तिं परम्परानुमोदितां११ मन्यते ।

पूर्वत्र उपपरीक्ष्यत्वेन परिगणिताः अपरे शब्दाः, १७६४ विक्रमाब्दे भाविनः हंसमिठुशुक्लस्य "हंसविलास" नाम्नि तन्त्रग्रन्थे आद्यक्षरसंग्रहादेव निरुक्ताः सन्ति । तद्यथा—आगमशब्दः१२ आचारपदस्याकारात्, गतिपदस्य गकारात्, महावाक्यार्थपदस्य च मकारात् निरुक्तः, अभिनवमेवार्थं गमयति । गुरुशब्दः१३ गृणाति उपदिशति इतीमां धातुजां निरुक्तिं विहाय एकाक्षरगु-रुशब्दाभ्यां निरुच्यते, यौ अन्धकारे अन्धकारनिरोधिनि चार्थे पर्यवस्यतः । आचार्य१४शब्दस्याकारः आम्नायात्, रेफान्तश्चकारः चराचरात्, यकारश्च यमादाहृतः । आचार्यशब्दस्यैव अक्षरसामान्यादपरापि निरुक्तिर्दृश्यते, या च विषय बहिर्भूतत्वात् परित्यज्यते । आद्यक्षरसंग्रहात् अत्र निरुक्तस्य आचार्यशब्दस्य, "चिञ् चयने" धातोः आचिनोति अर्थान्, शास्त्राणि अथवा आचारं ग्राहयति, शिष्यबुद्धिवृद्धिं करोति प्रभृतिनिरुक्तिभिः, स्मृतिकाराणाञ्च स्मृतैरर्थैः१५ सह तुलनया नवत्वं लक्ष्यते ।

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते" तद्बोधको वेदशब्दोऽपि१६ वेदिता पदस्य वेकारात्, दर्शनानां पदस्य च दकारान्निरुक्तः ।

संप्रदाय१७ शब्दः, संसारपदस्य समः, प्रसादात्पदस्य प्र-तः, दानतः पदस्य दः, यशः पदस्य च यकारान्निरुक्तः, साम्प्रदायिकमौदार्यं परिपुष्णाति । पादुकाशब्दः यावत् पदगतौ धातोः "पद्यतेऽनया पादूः, पादूरेव पादुका"१८ इति निरुच्यते, तावदिह"१९ "पालनात्" दुरितच्छेदात्" कामितार्थप्रबन्धात्" प्रभृति पदानामाद्यक्षरैः निरुक्तः । किन्तु नेमा निरुक्तयः सर्वथापि ग्रन्थकर्त्तुरेव प्रतिभा-प्रसूता अपितु ग्रन्थान्तरीया अपि, इति ग्रन्थकर्त्तुः पुराणेतिहासशब्दयोः निर्वचनावसरे "श्रीकुलार्णवागमातिरहस्य" नाम्नः कस्यचित् ग्रन्थस्योल्लेखात् अनुमीयते । तदनुसारता च, "पुण्यपापादिकथनात्" पदस्य पोः, "रागद्वेषादिवारणात्" पदस्य रः, "नन्दनात्सर्ववर्णानां" पदस्य नकारात् पुराण२० शब्दः, "इष्टधर्मं कलात्मत्वात् पदस्य एः, "तिमिराज्ञाननाशनात्" पदस्य तेः, "हरणात्" पदस्य हकारात्, सर्वदुःखानां पदस्य च सकारात् इतिहास२१ शब्दो निरुक्तः—साधुत्वमेति ।

---

१०. (भूतं भवद्भविष्यच्च त्रयं पाति इतित्रपा ।
भावप्रकाशनम् ।

११. निरुक्तकारैर्निणीता मया सम्यक्प्रदर्शिताः ।
भावप्रकाशनम् २।१०

१२. आचारकथनाद्दिव्य-गतिप्राप्तिनिधानतः ।
महावाक्यार्थकथनादागमः कथितः प्रिये !

१३. गुकारस्त्वन्धकारोऽपि रुकारस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥

१४. आम्नायतत्त्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः ।
यमादि योगयुक्तत्वादाचार्य इतिकथ्यते !

१५. उपनीय तु यः पूर्वं वेदमध्यापयेत् द्विजः ।
साङ्गं सरहस्यं च तमाचार्यं विदुर्बुधाः ॥
मनु० २।१४०

१६. वेदितात्सकलाभीष्टसद्धर्मार्थनिकर्षणात् ।
दर्शनानां प्रमाणत्वात् वेद इत्यभिधीयते ॥

१७. संसारसारभूतत्वात् प्रसादानन्ददानतः ।
यशः सौभाग्यकरणात् सम्प्रदाय इतिस्मृतः ॥

१८. लिंगयसूरेः अमरपदविवृतौ ।

१९. पालनाद्दुरितच्छेदात् कामितार्थ प्रबन्धनात्
पादुकेति समाख्याता मम तत्त्वंकुलेश्वरि !

२०. पुण्यपापादिकथनाद्रागद्वेषादि वारणात् ।
नन्दनात्सर्व वर्णानां पुराणमिति कथ्यते ॥

२१. इष्टधर्मकलात्मत्वात्तिमिरज्ञाननाशनात् ।
हरणात्सर्व दुःखानामितिहास इतिस्मृतः ॥

वैदिक योगपरम्परा का-एक समीक्षात्मक-अध्ययन

(वेद-भाग)

श्री प्रो० जयदेव वेदालंकार एम० ए० दर्शनविभाग

हम भगवान् का द्वार तभी खटखटाते हैं जब हम दु:खी और निराश हो जाते हैं। हमारी सहनशक्ति का सामर्थ्य जब बिल्कुल समाप्त हो जाता है तब हम सभी ओर से पूर्णतः निराश होकर भगवान् की शरण में जाते हैं। किन्तु उस निराशावस्था की प्रतीक्षा ही क्यों की जाय ? क्यों न हम प्रतिदिन प्रार्थना एवं निष्ठा द्वारा तथा योगाभ्यास से अपनी शक्ति का विकास करते जायें।

योग विद्या के वास्तविक स्वरूप को यदि हम जानना चाहें तो हमें वेद की ओर पुनः जाना होगा जो वेदज्ञान हमें शाश्वत काल से ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित करता रहा है। महर्षि दयानन्द जी ने योग ज्ञान के लिए वेद की कुञ्जी हमारे हाथों में प्रदान की है, महर्षि ने लिखा है कि "सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष कर के प्रतिपादन है। कहीं २ साक्षात्‌रूप से और कहीं कहीं परम्परा से। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।१

वेदों में अधिकांश ऐसे मन्त्र हैं जिन का केवल योगपरक अर्थ ही होता है। मनुष्य योग द्वारा मन के देवता चन्द्रमा२ को उद्दीप्त करता है, इसी प्रकार वह अपने चाक्षुष आत्मा से सूर्य नामक तत्त्व की जागृति करता है, प्राण नामक आत्मा से वायु, मुख, या वाक् से अग्नि, इन्द्रनाभि या मध्यस्थान से अन्तरिक्ष, आत्मा सेतुविधरण, शिर या पूर्वार्ध से द्यौ, श्रोत्र से दिशायें और लोक, पाद से भूमि यह सब उपरोक्त सृष्टि-रचना योगी की आत्मिक अति सृष्टि रचना कही जा सकती हैं जिन्हें योगी अपने इसी शरीर के मर्त्य प्राणों से अमृतत्व और अमर्त्य देवताओं को जागृत या उद्दीप्त करके ज्योति के सागर में आनुभूतिक ज्योतिष्मती डुबकियों में मग्न रहता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के ४-२६, १०-४८, १०-४६, १०-१२५, ४-४२-१०-१५६, १०-१८३, इत्यादि सूक्तों में योग का अति सुन्दर और रमणीय विवेचन हुआ है

स्तुतियों में संलग्न जागरूक१ विप्र ऋषि विष्णु के परमपद को उद्दीप्त करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के १-३४-६, में पूछा है कि बतलाइये कब रूप वेगवान व बलवान् रासभ का ब्रह्म के साथ योग हो सकेगा जिससे हे नासत्य तुम उस सत्यनामक अमृतत्व या विकासमय यज्ञ या यज्ञस्थल को प्राप्त हो सकोगे२।" युञ्जन्ति ब्रध्न मरुषं"३ ब्रध्न नामक

---

१. तदेव ब्रह्मसर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित् साक्षात् क्वचित् परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।"
(ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकावेदविषयविचार)

२. चन्द्रमा मनसो जातः।

---

१. "तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमंपदम्॥ (ऋ०वे० १-२२-२१)।

२. कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन सत्यं नासत्योपयाथः॥ (ऋ.वे. १-३४-६)।

३. युञ्जन्ति ब्रध्न मरुषं चरन्तं परितस्थुषः रोचन्ते रोचना दिवि॥ (ऋ०वे० १-६-१)।

आदित्य से या सूर्य तत्त्व से अरुष नामक अग्नि और गतिमय वायुदेवता ये दोनों जब आसन स्थित इन ऋषियों से संयुक्त या सम्बद्ध हो जाते हैं, तब इनके शरीर के आभ्यन्तर लोकों में स्वर्गीय ज्योति बिखर पड़ती है तै.ब्रा. ३-९-४) यह साक्षात् रूप से योग क्रिया का ही वर्णन है।(१काम्याहरीं) मर्त्यामर्त्य प्राणरूप अश्वों को उस ब्रह्मनामक सूर्य से संयुक्त करते हैं। "स घा नो योग आभुवत" में तो स्पष्ट रूपेण प्रार्थना की है कि वह इन्द्र हमारे योग में साधक हो। और १-१८-७ के मन्त्र में तो ब्रह्मणस्पति के बारे में लिखा है कि उस के बिना तो कोई योग आदि यज्ञसिद्ध नहीं हो सकता२। क्योंकि वह ज्ञानमयतत्त्व है। सब प्राण ज्ञानमय होते हैं, उनका योग साधक यही देवता है। १-३०-७ के मन्त्र में तो और अधिक स्पष्ट है कि हम प्रत्येक योग प्रक्रिया में प्रत्येक यज्ञ में तेरा आह्वान करते हैं क्योंकि तुम ही बलशाली संरक्षक हो३। आभ्यन्तर योग-यज्ञ में हम तुम्हारे बल या शक्ति की तथा ब्रह्म-यज्ञ में वाग्यज्ञमें बल की मुहुर्मुहु प्रशंसा करते हैं। यजुर्वेद (११-२) योग की प्रक्रिया को "सवे " या "प्रसवे" या अतिसृष्टि के रूप में हम एकाग्र मन से सविता भगवान् की अराधना अलौकिक शक्ति के लिए करते हैं। फिर ११-३ में कहा है कि वह सविता४-भगवान् योग द्वारा स्वर्ग की ओर जाते हुए प्राणों को अलौकिक शक्ति देकर ज्योतियों से

१: युञ्जन्त्यस्य काम्याहरी विवक्षसारथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ ऋ. १-६-१
२. यस्मादृतेन सिध्यति यज्ञोविपश्चितश्चन स धीनां योगमिन्वति॥ (१-१८-७)
३. योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये (१-३०-७)।
४. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥ (११-२)

जगमगा देता है। आगे ११-३ में कहा है वह सविता१ ईश्वर योग द्वारा मोक्षधाम की ओर जाते हुए प्राणों को उनके देवताओं से सम्बद्ध करके अलौकिक ज्योति उत्पन्न करने वाले देवों को प्रेरित करता है और ११-४ में योग प्रक्रिया का स्पष्ट व्याख्यान किया है। वहां स्पष्ट लिखा है कि वैदिक दार्शनिक योगी२ ऋषिगण तुम्हारी अनुभूति के लिए अपने मन तथा प्राणों (धियः) का योग करते हैं। यजुर्वेद के ये मन्त्र एक ही क्रम में हैं। अतः यहां पर पूरा वातावरण ही योगमय है। इस में सन्देह को कोई स्थान नहीं हो सकता है।

वेदों में योगियों के नाम मुनि और यति दिये गये हैं। जिन्हें गन्दे वस्त्र रूप मर्त्य भौतिक शरीर धारी भी कहा गया है। उनके दैवी तेजस्वी ज्योतिरूपदिव्य में मर्त्य भौतिकात्मीय शरीर कृष्ण वर्ण का या गन्दा सा प्रतीत होता है। ऐसा वर्णन करके जितनी अद्भुत उपमा दी है, ऐसी उपमा अन्यत्र दुर्लभ है।

"मुनयो वात-रशनाः पिशङ्गा वसते मला" आदि।

वास्तव में वेदों के अन्दर अनेक प्रकार से योग का वर्णन आया है। इस योग विद्या का नाम सोम भी आया है। कुछ भाष्यकारों ने सोम को आर्यों की शराब माना है। परन्तु वास्तव में सोम एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति का नाम है जो योग के द्वारा एक विशेष अलौकिक ब्रह्म की ही शक्ति साधक

१. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतोधियादिवं। बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ (यजु० ११-३, श्वेताश्व उप०)।
२. युञ्जते मन उत युञ्जतेधियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। (यजु०११-५, श्वे०उ०)

में उत्पन्न हो जाती है जो हमेशा उसे समाधि एवं ब्रह्म के नशे में ऐसा मस्त कर देती है कि वह सदैव परमानन्द को उपलब्ध करता रहता है।

सोम के विषय में स्वयं वेद क्या कहता है ? यह विस्तार पूर्वक एवं मननपूर्वक देखना चाहिये। सोम क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसे कौन पान करते हैं। उस का पान करने का परिणाम क्या होता है ? आदि। क्रमशः यहां सोम का वर्णन करते हैं। "जो लोग जड़ी-बूटी को पीस कर घोटकर छानकर यह समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम का पान कर लिया, वे बहुत भोले हैं। ब्राह्मण दार्शनिक, ऋषिगण जिस को सोम नाम से पुकारते थे उस को तो कोई भी इस प्रकार खा पी नहीं सकता है। वह तो अनुभूति का विषय है खाने पीने की वस्तु नहीं है। हे सोम तुम को तो बृहती छन्दाक्षरों के तत्वाक्षरों के नियमित स्वरूप या स्थान में अनेक प्रकार के कोशों के विधानों के आभ्यन्तरीय भाग में निगूढ़ रखा गया है, यद्यपि वह अखण्ड ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जो लोग सोम को केवल सिलबट्टा या पत्थर पर घिस कर पीने का विधान करते हैं वे वास्तव में लोगों को ठगते हैं। वास्तव में यह जो कहीं २ भौतिक सोम वर्णन आया है, वह भी ऐसी सात्विक औषधि है जो भगवान् की प्राप्ति में साधक थी। यह कहीं अभिनय मात्र भी वर्णन हुआ है। जिस प्रकार भाप निकाल सोम निकालने का वर्णन करते हैं वह तो वास्तव में आपोमय प्राण शरीरों के पात्रों को शरीर की अग्नि से उत्तप्त करके वह अमृत ज्योतिरूप सोम तवन किया जाता है, खींचा जाता है। आगे सोम का अद्भुत एवं अनेक प्रकार का वर्णन करते हुए वेदों का महत्त्व इस प्रकार जाना जा सकता है कि वह मही१ या पृथ्वी या वेदी में निवास करने वाला महिष नामक सोम तो महतो-महान् है। यह इस अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने वाला राजमान तत्त्व है। और प्राणरूप प्रजा को दैवी रूप में प्रस्तुत करता है और प्राणों के आसुरी सागर को पार कर जाता है। वह इस पृथ्वी रूप पर्वत की चोटी में अव्यय चोटी में बहुत रूप चन्द्र किरण रूप पवित्र ज्योति को चुवाता हुआ वर्षणशील वृषण या वृषभ कहलाता है२। यह सोम प्राणों में ज्ञान ज्योति का जनक है। उसी से यह पृथ्वी या ब्रह्माण्ड भी निर्मित होता है। उसी से वैश्वानर की उत्पत्ति होती है। वह इन्द्र, विष्णु और ब्रह्म की नाना शक्तियों का जनक है। ३यहां सोम का ईश्वर के रूप में स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह सोम देवों को योगयज्ञकारक मनोरूप ब्रह्मा है। योगियों के योग यज्ञ का मार्ग दर्शक या पदवी है। वास्तव में वेद में वर्णित जो सोम है उस के अनेक अर्थ ही आध्यात्मिक हैं। कभी वह सोम भक्ति का वाचक है। कभी वह समाधि द्वारा प्राप्त आनन्द का वाचक है, कभी साक्षात् ब्रह्मविद् आत्मा का

---

१. सोमं मन्यते पपिवान यत्सम्पिशन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्नतस्याश्नाति कश्चन ॥

२. आच्छद्विधार्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राब्णमिच्छ्ण्वन्तिष्ठसि न हि ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ऋ० वे० १०-८५।

---

१. महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत-देवान्। अधादिन्द्रेपवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः। ऋ०–१म.

२. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा। वृषापवित्रे अधिसानोऽव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ॥

३. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जातोपृथिव्याः। (ऋग्वेद–१–९७–४)
जनिताग्ने जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

वाचक है। कभी ब्रह्म के अर्थ में ही सोम शब्द आया है।

वेद में सोमपायी साधक का वर्णन बड़े रोचक ढंग से किया गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११९वें सूक्त में उस भक्तिरूपी सोम का पान करने वाले की महिमा का वर्णन बड़ा ही सुरम्य ढंग से किया गया है। जब योगी योग करता हुआ अपने मनोभावों को इतना संयम में कर लेता है कि वह उद्घोषणा हैं, करता है कि मेरी ये जो गौ और अश्वादि सम्पत्तियां इन सब को दान में दे दूं। क्योंकि मैंने इस प्रभु भक्ति रूपी सोम रस का पूर्णरूपेण पान किया है अब ये संसार के सभी पदार्थ मुझे तुच्छ लगते हैं१। केवल भगवान् का वह सोम अर्थात् ध्यान योग ही मैं मेरा मन लगा रहता है। अगले मन्त्र में फिर साधक कहता है कि झकझोर देने वाली झञ्झावत के समान पान किये हुए ये सोम रस अथवा भक्तिरस खूब आप्लावित कर रहे हैं२ अर्थात् संसार के विषयों से मैं पूर्णरूप से उपराम होता जा रहा हूं जैसे शीघ्र गामी घोड़े रथ को अपने लक्ष्य की ओर उड़ा ले जाते हैं३ उसी प्रकार जब से मैंने संसार से मोह कम कर योगाभ्यास कर, उस प्रभु की दिव्य ज्योति के दर्शन के लिए भक्तिरूपी सोम का पान किया है मेरा लक्ष्य या वह सोमरूपी योग मुझे मेरे लक्ष्य की ओर उड़ाये ले जा रहा है। जैसे अपने प्रिय पुत्र के पास गौवें रंभाती हुई चली४ आती हैं उसी प्रकार योग करने के बाद भगवान् की कृपा वृष्टियां भी अनायास ही मुझे प्रभु के आनन्द में मस्त कर जाती हैं। आगे कहा है जैसे कुशल५ कारीगर अपनी कला से प्रत्येक वस्तु का कलात्मक निर्माण करता है उसे सुन्दर बनाकर सब का मन मोह लेता है, उसी प्रकार जब से मैंने अपनी एक-एक चित्त वृत्ति६ को वश में कर के पवित्र जीवन यापन करना प्रारम्भ किया तभी से भक्तिरूपी सोम का आस्वादन मुझे सरलता से आने लगा है। वास्तव में जब मनुष्य योगाभ्यास करता हुआ समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह आनन्द कैसा होता है ? इस की तुलना संसार के किसी भी भोग एवं पदार्थ से नहीं की जा सकती है। मैत्रायण्य-पनिषद्७ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समाधि की अवस्था में पहुंचने पर अथवा साधक का चित्त पूर्ण रूप से योगाभ्यास द्वारा निर्मल हो जाता है सब प्रकार के मल धुल जाते हैं, उस अवस्था में जो ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है, उस का वर्णन लेखनी द्वारा तथा वाणी के द्वारा नहीं किया जा सकता वह तो केवल अनुभव करने का विषय है कहने सुनने का नहीं।

---

१. इति वा इति मे मन गामश्वं सनुयामिति । कुवित्सोमस्यापामिति ।
२. प्रवाता इव देधत उन्मा पीता अयंसत । कुवित्सोमस्यापामिति ।
३. उन्मापीता अयंसत रथमश्वाइश्वाश्वः । कुवित् सोमसीपमिति ।
४. उपममतिस्थित वाश्रा पुत्रमिवप्रियं । कुवित् सोमस्यापमिति ।
५. अहं तष्टेव बन्धुरं पर्यचामि हृदाइति । कुवित् सोमस्यापमिति ।
६. अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् । तस्माउ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो परं च बन्धुः ।।
(अथर्व० ५-११-११)
७ समाधिनिधूंतमलस्ल चेतसोनियेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । नशक्यते वर्णलितुं गिरात्मा स्वयंतदन्यःकरणेन गृह्यते ।।
(मैत्र० ४९)

—★—

वेदेषु योगविद्यामूलम्

श्री आचार्य धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः (देवमुनिर्वानप्रस्थ) आनन्दकुटीरम् ज्वालापुर

ओ३म् योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥
ओं स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरन्ध्या ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥
ओं युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य
बृहतोविपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकइन्मही देवस्यसवितुः
परिष्टुतिः ॥ यजु. ११.४
ओ३म् अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं
भजन्तु मे ।
क्षेमं प्रपद्ये योगं च योगं प्रपद्ये क्षेमं च नमो
अहोरात्राभ्यामस्तु ॥ अथर्व० १९.८.२
ओ३म् आत्वाविशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥ साम० १९७
ओं युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविताधियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याअध्याभरत् ॥
यजु. ११.१ ।
ओं युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ य. ११.२
ओं युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया
दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता
प्रसुवाति तान् ॥ यजु. ११.३

इत्यादिकेषु परश्शतेषु मन्त्रेषु योगयुक्तयुञ्जानादिशब्दानां प्रयोगो व्यक्तं दरीदृश्यते येषां प्रयोगः पातञ्जलयोगशास्त्रेऽन्येषु च योगविषयकग्रन्थेषु भूयोभूयोऽवलोक्यते । एतेन स्पष्टमिदं ज्ञायते यदितरासामनेकविद्यानामिव वेदेषु योगविद्याया मूलमपि सम्यगुपलभ्यते । को नाम योगः किं योगसाधनस्य लक्ष्यं, कानि तत्साधनान्यङ्गानि वा इत्यादिकानां योगसम्बद्धानां सर्वविषयाणां प्रतिपादनं वेदेषूपलभ्यते विस्तरभियास्य विषयस्य समासत एव निर्देशः करिष्यते मया । योगशब्दस्य प्रयोग उपरिलिखितेष्वन्यमन्त्रेषु च बहुत्रवर्तते तल्लक्षणं महामुनिना पतञ्जलिना 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति विहितम् । यजुर्वेदस्यैकादशाध्यायस्य ये प्रारम्भिकाश्चत्वारो मन्त्रा अस्य लेखस्योपक्रमे मयोदाहृतास्ते योगस्य मुख्यतत्त्वानि सम्यग् बोधयन्ति ।

निदर्शनरूपेणास्यैकादशाध्यायस्य प्रथममन्त्र इत्थमस्ति-युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविताधियः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ यजु. ११.१ ।

अस्मिन् मन्त्रे प्रयुक्तं युञ्जान इतिपदं योग साधकवाचकम् ।

शतपथब्राह्मणे ६.३.१.१३ अस्यमन्त्रस्यव्याख्यानोऽभिहितम् "प्राणाः धियः" अतः धियः युञ्जानः इत्यंशः प्राणायामद्योतकः । मनोनिग्रहार्थं प्राणायाम आवश्यक इत्यनेन सूच्यते ।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ (योगदर्शने १.३४) । इति सूत्रं मनोनिग्रहार्थं प्राणायाममावश्यकसाधनत्वेन निरूपयति ।

'मनो धियः युञ्जानः" इतिमन्त्रांशः प्रत्याहारं निर्दिशति यल्लक्षणं फलं च महामुनिना पतञ्जलिना

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।" (योगदर्शने २.५४) ।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् (यो.द.२.५५)
इतिरूपेण निरूपितम् ।

तत्त्वाय मनोधियः युञ्जानः इति संयमो यस्य लक्षणं महर्षिणा पतञ्जलिना 'त्रयमेकत्रसंयमः–

तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयम् एकत्र संयमः इति व्यासभाष्ये ।

'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य' अग्नेर्ज्ञानस्वरूपात्परमात्मनः इयं समाधेश्चरमावस्था ।

'पृथिव्या अध्याभरत्' इतियोगिनः कर्तव्यं निर्दिष्टम् योगिराजेन महर्षिणा दयानन्देन मन्त्रस्यास्यभाष्यं कृण्वता भावार्थ इत्थं निरूपितः

'योजनो योगं चिकीर्षेत संयमादिभिः अन्तः करणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञा समर्ज्यै तानि गुणकर्मस्वभावतो विदित्वोपयुञ्जीत । पुनर्यत् प्रकाशमानानां सूर्यादीनां प्रकाशकं ब्रह्मास्ति तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वपरप्रयोजनानि साध्नुयात् ।।" (यजुर्वेदे ११.१ भाष्ये-महर्षि दयानन्द सरस्वती) अस्य अध्यायस्य द्वितीयमन्त्र इत्थं वर्तते ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ।। (य.११.२) महर्षि दयानन्द कृतव्याख्या 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां उपासनाप्रकरणेऽधोलिखितरूपेविद्यते 'सर्वेमनुष्या एवमिच्छेयुः (स्वर्ग्याय) मोक्षसुखाय (शक्त्या) योगबलोन्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तिर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्ये (युक्तेन मनसा) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ।। भावार्थ इत्थं प्रत्यपादि महर्षिणास्वकीयवेदभाष्ये "यदि मनुष्याः परमेश्वरस्यसृष्टौ समाहिताः सन्तो योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति सेवेरन्—तेषु प्रकाशितात्मानः सन्तो योगं पदार्थविद्यां चाभ्यस्येयुः, र्तहिसिद्धीः कथं न प्राप्नुयुः ।।

तृतीयमन्त्रो ऽस्याध्यायस्येत्थं वर्तते

ओं युक्त्वाय सविता देवान्स्वर्यतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।

महर्षिदयानन्दकृता व्याख्या—एवं योगाभ्यासेनकृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः (युक्त्वाय) तदात्मसुप्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धियः) स्वकृपाधारवृत्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिव्यम्) दिव्यम् स्वस्वरूपं (प्रसुवाति) प्रकाशयति तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिकरिष्यमाणान् उपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेनसदानन्दयतीति ।।

चतुर्थमन्त्रो विशिष्टतया महत्वपूर्णो योगस्वरूपादिविषयदृष्येति स उदाह्रियते ।

ओं युञ्जते मन उत 'युञ्जते धियोविप्रा विप्रस्यबृहतो विपश्चितः । विहोत्रादधेवयुनाविदेक-इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषदो द्वितीयेऽध्यायेऽपि मंत्रोऽयं वर्तते तत्र श्रीमच्छंकराचार्यकृतव्याख्यानमित्थं वर्तते यदुल्लेख्यम्-युञ्जन्ते योजयन्ति येविप्रा मनः उत युञ्जते धियः । इतराण्यपि करणानि धी=हेतुत्वात् करणेषु धी शब्दप्रयोगः विप्रस्य विशेषेण व्याप्तस्य बृहतो महतो (विपश्चितः) सर्वज्ञस्य देवस्य सवितुः महती परिष्टुतिः कर्तव्या । पुनरपि तमेव विशिनष्टि ।

(वि होत्रा दधे) होत्राः क्रिया यो विदधे (वयुनावित्) प्रज्ञावित् सर्वज्ञानत्साक्षिभूतएकोऽद्वितीयः । ये विप्रा मन आदि करणानि विषयेभ्य उपसंहृत्यात्मन्येवयोजयन्ति तैर्विप्रस्य बृहतो विपश्चितोमहतीपरिष्टुति-कर्तव्या । होत्रा विदधे वियुनाविदेकः सविता ।। श्री शंकराचार्याः ।

महर्षि दयानन्दसरस्वतीकृतास्य मन्त्रस्य व्याख्या-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामधोलिखितप्रकारेण विद्यते 'अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्तव्येत्याह। (विप्राः) ईश्वरोपासकामेधाविनः (होत्राः) योगिनोमनुष्याः (विप्रस्य) सर्वज्ञस्यपरमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति (उत) अपि (धियः) बुद्धिवृत्तीः तस्यैव मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे तथा (वयुनावित्...) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्रितानि यो वेद स वयुनावित् (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च नास्मात् पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्तत इति तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या कथंभूतः स्तुतिः (मही) महतीत्यर्थःएवंकृतेसति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ।।

एवमस्मिन् मन्त्रे धारणाध्यानसमाधीनां सम्यङ्निर्देशोवर्तते । अस्यमन्त्रस्य भावार्थो महर्षिणा दयानन्देन समासत इत्थं न्यरूपि 'ये युक्ताहारविहारा एकान्ते देशे परमात्मानं युञ्जते ते तत्त्वज्ञानं प्राप्य नित्यं सुखं यान्ति ।।

सामवेदे योगतत्त्वप्रतिपादनम्——

सामवेद : प्रधानतयोपासनाप्रतिपादको वेदः !
उपासना योगाभ्यासेन विनाकथमपि न संभवति ।
सखायआनिषीदत पुनानायप्रगायत ।। साम५६८

इत्यादिमन्त्रेष्वासनप्रतिपादनमपि स्पष्टं यस्य स्थिरसुखमासनम् इति महर्षिपतञ्जलिकृतं लक्षणम् ।

सामवेदे समाधिदशायाः सजीवचित्रणम्——

अधोलिखितयोः साममन्त्रयोः समाधेः सजीवमतिविशदं च निरूपणं दरीदृश्यते ।

आत्वाविशन्त्विन्दवः समुद्रमिवसिन्धवः ।
नत्वामिन्द्रातिरिच्यते ।। साम. १९७, १९९ ।

अत्रेन्दुपदेन चन्द्रवत् सौम्यस्वभावानां शान्तदान्तानामुपासकाना योगिनां ग्रहणम् । ते परमेश्वरे तथा मग्ना भवन्तु यथा सिन्धवः—नद्यः समुद्रंप्रविशन्ति । तस्यां समाध्यवस्थायां हे इन्द्र—परमेश्वर । त्वामतिरिच्य त्वदतिरिक्तमत्यर्थः किमपि नावशिष्येत न कोऽप्यन्य विचारोऽवशिष्येत ।

अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः ।
अग्मन्नृतस्य योनिमा ।। साम० ६५९ ।

अस्मिन् मन्त्रेऽपि समाधिस्थदशाया वर्णनं स्पष्टम् यथा दुग्धवत्यो गावः अस्तं – गोष्ठं गोशालां वा प्रविशन्ति तथा चन्द्रवच्छीतलस्वभावाः सौम्या उपासकाः ऋतस्ययोनिं सत्यमूलं परमेश्वरम् आ—समन्तात् प्रविशन्ति – तस्मिन्नेव मग्ना भवन्ति ।।

अथर्ववेदे योगतत्त्वप्रतिपादनम्——

अथर्ववेदः प्रधानतया योगविद्याप्रतिपादक इति विपश्चितोमन्यन्ते। अथर्वशब्द एव विचारमिमं समर्थयति यतः थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः अथर्वेति श्रीयास्काचार्यो निरुक्ते १७.२. १९ प्राह ।

चर – गतौ । भ्वा. । निश्चलावस्थासम्पन्ना । अथर्वाणः तेषामयं वेदः तदवस्थातत्साधनप्रतिपादक इति भावः । काशकृत्स्नधातु पाठे १.२०९ थर्व हिंसायाम् इति पठितम् । अहिंसाव्रतधारी योगी अथर्वः । विस्तरभिया केवलं मन्त्रचतुष्टयमत्र निर्दिष्यते योगतत्वानां विशिष्टतया प्रतिपादकम् ।

(१) मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् । मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः ।। अथर्व. १०.२.२६

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। अथर्व. १०.२.३१

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते !
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदुः।।
अ. १.२.३२

एषु मन्त्रेष्वष्टचक्रादीनां हृदयप्रदेशस्य योगिना तत्र साक्षात् क्रियमाणस्य ब्रह्मणश्च विशदं निरूपणम्। एष्वन्तिममन्त्राधारेणैव मुण्डकोपनिषदि प्रतिपादितम्

'हिरण्यये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् !
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ।।
मुण्डकोपनिषदि २.६

अथर्ववेदस्यैकादशकाण्डस्य चतुर्थं प्राणसूक्तं प्राणस्य स्वरूपं महत्वं प्राणायामादिलाभं च सम्यङ् निर्दिशति यस्मिन् प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।

प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
अ.११.४.१५

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानुतिष्ठतु ।। अ.११.
४.२४ ।

इत्यादयो मन्त्राः सन्ति ।

योगविषयकमतिमुख्यं मन्त्रमथर्वसंहितातो महर्षिदयानन्दकृतव्याख्यासहितमुद्धृत्य लेखोऽयमुपसंह्रियते ।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे । योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ।। अ.१९.८.२ ।

महर्षि दयानन्दकृतं व्याख्यानम्—हे परमेश्वर-भगवन् ! कृपयाष्टाविंशानि (शिवानि) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्दशेन्द्रियाणि दश प्राणा मनोबुद्धिचित्ताहंकारविद्यास्वभावशरीरबलंचेति (शग्मानि...) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्याम्) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्रपद्ये च)योगं प्राप्य(क्षेमं च)प्रपद्ये क्षेमं प्राप्य योगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकं सहायकारी भवान्भवेदेतदर्थं सततं नमोऽस्तु ते ।। इत्थं योगविद्यामूलं वेदेषु वर्तत इति समासतः प्रत्यपादि मया।।

वेदेषु योगविद्यानिदर्शनम्

श्री जयदत्त शास्त्री, व्याकरणदर्शनाचार्य्यः, एम०ए०

वेदविदां श्रुतिपारदृश्वनां विदुषां सुनिश्चितमेतन्मतं यत् सर्वाः सत्यविद्या वेदेषु बीजरूपेण विद्यन्ते। तानि खलु विविधविद्याबीजानि विविधवेदमन्त्रेषु विकीर्णानि सन्ति। योगविद्याया बीजं चापि तत्र समुपलभ्यते। तदेतदुपरिष्टात् प्रतिपादयिष्यामः। पूर्वं तावद्योगपदार्थो विवेचनीयः। युज—समाधौ (दिवादिः) युजिर्—योगे (रुधादिः) इत्याभ्यां धातुभ्यां भावादौ घञ्प्रत्ययविधानाद् योगशब्दो निष्पद्यते। 'कश्छन्दसां योगमावेद धीरः (ऋग्वेद १०।११४।९) इत्यृङ्मन्त्र आद्युदात्तो योगशब्दो दृश्यते। तेन घञन्ततैव युजे र्युक्ता 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'(अष्टाध्यायी ६।१।१९७) इति प्रामाण्यात्। योजनं (चित्तवृत्तिनिरोधः-मनः समाधानं) योगः, युज्यते इति वा। एतेन समाधिः सम्मेलनं= सम्बन्धनं वोभयं योगपदार्थो भवति। तत्र समाधिरूपो योगो योगदर्शनादौ प्रसिद्धः। अन्योऽपि ज्ञानयोग-कर्मयोग-भक्तियोग-संन्यासयोगेत्यादिप्रकारको भगवद्गीतादौ वर्णितोऽस्ति सोऽयमुभयविधो योगो वेदेष्वन्वेषितुं शक्यते। यथा हि बीजं विना वृक्षोत्पत्तिर्न भवति तद्वत् सर्वं कार्यजातं कारणमूलकं वेद्यम्। पातञ्जलयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धो योगो वृक्षरूपो विद्यते, अतस्तन्मूलं सर्वविद्याजन्मभूमौ वेदे कथन्न स्यादिति तर्कानुगतमेतत्। अथात्र श्रुति-(शब्द) प्रमाणमपि भवति।

(१) यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

(२) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ॥

इति कठोपनिषदि ज्ञानेन्द्रियाणामेकत्रावस्थितिः स्थिरेन्द्रियधारणाऽपरपर्याया योगनाम्नोपदिष्टा विद्यते। वेदसंहितासु खल्वपि—

(१) युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

(२) युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥

(३) युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥

(४) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य
बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य
सवितुः परिष्टुतिः॥ (ऋ०५।८१।१)

(५) युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकएतु-
पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि
दिव्यानि तस्थुः॥ (यजु० ११।१-५)

(६) योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये॥

(७) युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥ (अथर्व०२०।२६।१४)

(८) आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।
उप ब्रह्माणि नः शृणु॥

(९) ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः।
सुतावन्तो हवामहे॥ (अथर्व० २०।३८।२,३)

(१०) ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।

स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन्

विद्वानुपयाहि सोमम् ।।(अथर्व० २०।८६।१)

--इत्येवमादयो मन्त्रा वर्णयन्ति यद् ये विप्रा मेधाविनो योगिनश्च पुरुषाः स्वशक्त्या (प्राणायामादिशास्त्रान्तरव्याख्यातक्रिययेत्यर्थो वा ग्राह्यः) ब्रह्मणि --परमात्मनि स्वमनो समादधति, तेषामनुत्तमं स्वर्ग्यं दिव्यं मोक्षसुखं कैवल्यापरपर्यायं समुपजायत इति ।

ननु चेद् वेदे चित्तवृत्तिनिरोधात्मकस्य योगस्य मूलंवर्तते तर्हि समग्रस्य योगानुशासनस्य प्रकारस्तत्र कथं न प्रोक्तो येन योगस्य वैदिकसरणिमनुतिष्ठेयुर्युयुक्षवः? अत्रोच्यते । कस्याप्यनुष्ठानस्य कर्मविशेषस्य वा साङ्गोपाङ्गोविधिर्मन्त्रसंहितासु नोक्तः । सर्वं हि विधिजातं कर्मकाण्डमधीतवेदैर्महर्षिभिः स्वप्रणीतेषु कल्पशास्त्रेषु श्रौत-गृह्यधर्मसूत्रेषु चान्वाख्यातं वरीवर्ति । वस्तुतः सत्यं मौलिकं च ज्ञानमल्पाक्षरेषु सूत्रात्मकेषु मन्त्रेषु परमेश्वरेण प्रदत्तमस्त्यतस्तत्र कस्यापि क्रियाविधो सविस्तरवर्णनस्याशंका न कार्य्या । किञ्च, विभिन्नविदुषां यानि विभिन्नानि काले काले समुपजातानि उपज्ञाख्यानि ज्ञानानि सन्ति, तेषामुपयोगेनापि नरेण स्वकार्यनिर्वाहः कार्य्यः--इत्येतद्रहस्यं खल्वपि तत्र भगवती श्रुतिः स्वयं प्रतिपादयति । तथा च मन्त्रवर्णाः--"मनीषिणः प्रभरध्वं मनीषां यथा यथा मतयः सन्ति नृणाम् । इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः ।। (ऋ०वे०१०।१११।१) इति । अस्मादेवहेतोस्तत्र योगानुशासनस्यापि पूर्णविधेरुल्लेखो नास्तीत्यवधेयम् । तथापि पातञ्जलयोगगतानि सुबहूनि तत्त्वानि वेदेषु दृष्टिगोचराणि भवन्ति; तद्यथा--

(१)तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्(यो०सू०१।३) "स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्जायते यथा कैवल्ये"--इति सूत्रस्यास्योपरि व्यासभाष्यवाक्यमस्ति । एतस्यार्थस्य मूलं "यत्र सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (यजु० ४०।७) इति याजुषमन्त्रे निहितमवधेयम् ।

(२) श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिपूर्वक इतरेषाम् (यो०सू०१।२०)--"उपायप्रत्ययो (श्रद्धाद्युपायहेतुको निर्बीजः समाधिरितिभावः) योगिनां भवति । श्रद्धा--चेतसः सम्प्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्य्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृतिरुपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते, येन यथावद् वस्तु जानाति । तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ।" इति यां श्रद्धां निर्बीजसमाधेर्हेतुभूतां सूत्रकारभाष्यकारौ मन्येते सा हि वेदेषु बहुत्रोपवर्णितास्ति । तथा हि बाह्वृच्यवेदे--

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।।
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ।।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ।।
(ऋ०वे०१०।१५१।१,४,५)

इत्येवमाद्यृक्षु श्रद्धाया महत्त्वमुपयोगित्वं च प्रकटीकृतं विद्यते । 'अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्येप्रजापतिः ।' श्रद्धया सत्यमाप्यते' इति याजुषमन्त्रेण (१९।७७,३०) खल्वपि सत्यस्य प्राप्तिकारणं श्रद्धा निगदितास्ति अत्रोद्धृतमन्त्रेषु 'वायुगोपा यजमाना

देवाः' इति पदत्रये 'वायुगोपाः' पदं विशेषणत्वेनो पात्तमस्ति यद्धि प्राणायामपरायणेषु योगिष्वेव संगच्छते यतो हि त एव वस्तुतो वायुगोपा वायोः श्वासप्रश्वासरूपस्य देहाभ्यन्तरे रक्षितारो निरोद्धारश्च बोभूयन्ते नान्ये ।

(३) ईश्वरप्रणिधानाद्वा (यो०सू० १।२३)– "प्रणिधानाद्––भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति-अभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति'। अत्र सूत्रभाष्ये भक्तियोगस्य स्फुटोस्त्युल्लेखः । तदेतदीश्वरभक्तिविषयका मन्त्रा वेदेषु भूयशः सन्ति । सर्वः सामवेदो भगवद् भक्तिपरोऽस्ति । अन्येष्वपि वेदेषु ईश्वरभक्तिद्योतका मन्त्राः समुपलभ्यन्ते। इह तु विस्तरभयात्स्थानाभावाच्च त्रिचतुरा एवोदाह्रियन्ते––

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ (ऋ०वे० १।१।६,७)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुस्था च शंसत ।
(ऋ० ८।१।१)

अर्चतप्रार्चत प्रियमेधासोऽर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रकाउत पुरं न धृष्णर्चवत ॥
अथर्व० २०।९२।५)

इत्येते मन्त्राः परमात्मनः (प्राणिनां कल्याणकृतो) भक्तिमुपासनां च मनुष्यैः कर्त्तव्यां प्रतिपादयन्ति ।

(४) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ (यो०सू० १।२४)

(५) तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । (यो०सू०१।२५)

(६) (स एष) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (यो.सू०१।२६)

(७) तस्य वाचकः प्रणवः । (यो०सू० १।२७)

(८) तज्जपस्तदर्थभावनम् । (यो०सू०१।२८)

इत्येतेषु सूत्रेषु ईश्वरस्य स्वरूपस्य, तद्वाचकपदस्य, तज्जपप्रकारस्य च वर्णनं विद्यते । तदेतत् सर्वं वेदमूलकमस्ति । तद्यथा योगे कर्मविपाकाशयैः क्लेशैश्चरहित ईश्वर उक्तस्तथैव वेदे खल्वपि निगदितम् । "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु०४०।८)। 'अकामोधीरोऽमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ (अथ० १०।८।४४) इत्येवमादिषु मन्त्रेषु । 'कविर्मनीषी' इति पदद्वयेन परमात्मनि निरतिशयं सर्वज्ञताबीजमस्तीति स्फुटमुक्तं भवति । 'ऋचोऽक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति । य इत्तद् विदुस्त इमे समासते ॥' (ऋ० १।१६४।३९) ओ३म् खं ब्रह्म । (यजु० ४०।१७) । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ (कठोपनिषद् १।२।१५) । 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डकोपनिषद् २।२।४) इत्येषु मन्त्रेषु परमेश्वरस्योम्पदवाच्यत्वं तज्जप प्रभावश्च सुतरां वर्णितो विद्यते ।

(६) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् (यो० सू० १।३३)—"तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेद् दुःखितेषु करुणाम्—एवमस्यभावयतः शुक्लो धर्मउपजायते, ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ।" इति सूत्रभाषयोसर्वभूतानां कृते मैत्री वर्तितव्या येनान्ततोऽस्य साधकस्य चित्तमेकाग्रं स्यादिति यदुक्तं तदेतदमुष्य वेदमन्त्रस्यानुवादरूपमेव—

"दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। (यजु० ३६।१८) इति ।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।। (अथर्व०१६।१५।६) इति मन्त्रेऽपि निगदितं यत् सज्जनेन तथा व्यवहर्त्तव्यं यथा सर्वाणि मित्राण्यमित्राणि सर्वा दिशश्चाभयप्रदाः स्युरिति ।

(१०) ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (यो० सू० १।४८) "तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति, अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्त्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति ।' अत्रोक्ताया ऋतम्भरायाः प्रज्ञाया मूलं—"ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः । पितॄन् तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।।" (ऋ०वे०१०।१५।४), अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।। (यजु० १।५) इत्यादिमन्त्रेषूह्यम् ।

(११) तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः (यो०सू०२।१) "नातपस्विनो योगः । सिध्यति ह अनादिकर्मक्लेशवासना चित्रा . . .अशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम् ।" इत्यत्रोक्तस्य तपसोऽपि मूलतो वर्णनं वेदेषु बहुत्रोपलभ्यते । तद्यथा—

'तपसा ये अनाधृष्या तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।।
(अथर्व० १८।२।१६) ।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।। (अथर्व०१६।४१।१)
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे । अग्नये स्वाहा ।। (अथर्व १६।४३।१) इत्येवमादयः ।

(१२) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । (यो० सू० २।२८) "योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि, तेषामनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्य्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयः नाशः, तत्क्षये सम्यग् ज्ञानाभिव्यक्तिः । . . . योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं यथा परशुश्छेद्यस्य, विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकरणं यथा धर्मः सुखस्य स" इति योगाङ्गानुष्ठानं तत्सदृशं च सर्वं श्रेष्ठं कर्म कथमशुद्धिं संछिद्य शुद्धिमातनोतीत्यस्य संकेतः—"स मृज्यते सुकर्मभिर्देवो देवेभ्यः सुतः विदे यदासु संददिर्महीरपो विगाहते ।। (ऋ० ६।६६।७)
इत्येतस्मिन् मन्त्रे निपुणं द्रष्टुं शक्यः ।

(१३) सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । (यो०सू० २।३६). .अमोघाऽस्य वाग् भवति ।' इत्येतदर्थस्य मूलमस्मिन्नृङ्मन्त्रे द्रष्टुं शक्यते—"शावमना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीलः । यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ।। (ऋ० १०।५५।६) ।

(१४) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (यो० सू० २।३८)--"यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थोभवति।" इत्यत्रोक्तं ब्रह्मचर्यमाहात्म्यं वेदेष्वित्थं जेगीयते--

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।। (अथर्व० ११।५।१६)

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाऽहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।। (अथर्व० १७।१।२७)

इत्थं योगशास्त्रस्य रहस्यानि बहूनि वेदेषूपलभ्यन्ते। वस्तुते "युजमापन्ना ऋषयः" (--समाधिप्राप्ता इत्यर्थः) इति काशिकायां ७।१।७१ तम सूत्रस्य वृत्तौ प्रत्युदाहृतेन वचनेन विज्ञायते यद् ये ये ऋषित्वमापुस्तेते सर्वे योगिन आसन्। वेदेषु चर्षीणां तपोबलादिविषये बहूनि वर्णनानि सन्ति यथा हि कानिचिदिहाप्यस्माभिरुदाहृतानि। एतेन गम्यते यद् वेदसंहितासु प्रयुक्त ऋषिशब्द । योगीत्यर्थमपि प्रकटयतीति । किंबहुना--

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरातदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ।।

इति सत्यार्थप्रकाशे समुदाहृतस्योपनिषच्छ्लोकस्य तुलना यदि ऋग्वेदीय पावमानसूक्तेन सह क्रियेत यत्र--

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र, माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।
(ऋ० ६।११३।११)

इत्येवं प्रकारा मन्त्रा विद्यन्ते तर्हि प्राप्तिसिद्धि नामधेयस्य योगानुष्ठानफलस्य सम्बन्धे उभयत्र किमप्यन्तरं द्रष्टुं न शक्यम् । अतो वै सप्रमाणमेतदुच्यते वेदमातैषा योगरहस्यान्यपि प्रकाशयतीति ।

अथ कर्मयोगसम्बन्धेऽपि किञ्चिदुच्यते। कर्मकाण्डस्य मूलं यजुर्वेद उच्यते । तत्रादिमे मन्त्रे-- 'इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येन श्रेष्ठतमकर्मणामनुष्ठानाय प्रेरणां दत्त्वा वेदान्ते"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।" इत्यत्र मन्त्रेऽपि पुनः कर्मणां करणाय निर्देशं करोति जगदीश्वरः । अपि च, 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्यआहितः' इत्येवमादिषु-अथर्ववेदीयमन्त्रेषु अन्येषु चापि मन्त्रेषु कर्मचोदना प्रदीयते। तदेतत् सर्वं कर्मयोगस्यैव शिक्षा वेदेऽस्तीत्यवधार्यम् ।

भक्तियोगस्य संक्षिप्तविवेचनं कृतमेव पूर्वम् । ज्ञानयोगस्यापि समुल्लेख ऋग्वेदीय ज्ञानसूक्ते--(दशममण्डलस्य एकसप्ततिमे सूक्ते) मन्त्रान्तरेषु च दरीदृश्यते । संन्यासयोगस्य नामतो निर्देशो यद्यपि वेदे नास्ति तथापि--

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषोऽव्ययात्मा ।। (मुण्डकोपनिषत् १।२।११)

इत्याद्यर्थमूलका मंत्रा वेदेऽनेकस्थलेषूपलभ्यन्ते । दिङ्मात्रमिहोदाह्रियते--

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। (यजु० ३१।१८)

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह स अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। इत्यलंविद्वद्वर्येषु । (यजु ४०।१४)

--०--

वेद में योग

श्री वीरसेन, वेदश्रमी, वेद-विज्ञानाचार्य

वेद में समस्त विद्यायें बीजरूप से विद्यमान हैं। आत्मा एवं परमात्मा का योग व सम्मिलित ही परम योग है–सर्वश्रेष्ठ योग है अतः योग नाम से इस को ही प्रधान रूप से ग्रहण किया जाता है। ऐसे महत्वपूर्ण एवं रहस्यज्ञान का उपदेश वेद में अनेक रूप में विद्यमान है। 'कदा योगो भविष्यति' मन्त्रवाक्य योग के बारे में प्रश्न, जिज्ञासा उत्पन्न करता है और इस 'कदा' का उत्तर 'यदा' के द्वारा देना होगा।

प्रस्तुत लेख में पातञ्जल योग दर्शन के कतिपय सूत्रों का समावेश किन मन्त्रों में किया जा सकता है अथवा उन सूत्रों के आधारभूत मन्त्र कौन से माने जा सकते हैं–यह इस लेख में अतिसंक्षेप से समयाभाव से लिखा है। सूत्र और मन्त्रों का अर्थ तथा संगति विद्वान् पाठक स्वयं मननचिन्तन पूर्वक करने में समर्थ है––

१. अथयोगानुशासनम्––

(१) योगं प्रपद्ये। (अथर्व. १६।८।२)

(२) योगक्षेमो नः कल्पताम् (यजुः२२।२२)

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः–

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन

(यजुः १७।७८)।

३. तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्––

(१) वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।(यजुः ३२।८)

(२) तस्ययोनिंपरिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह-तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (यजुः ३१।१६)।

४. वृत्तिसारूप्यमितरत्र––

(१) यज्जाग्रतोदूरमुदैतिदैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरं गमं ज्योतिषांज्योतिरेकम्। (यजुः ३४।१)।

(२) येन कर्माण्यपसोमनीषिणोयज्ञे कृण्वन्तिविदथेषुधीराः। (यजुः३४।२)।

५. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः–

(१) क्लिष्ट वृत्तियों का परिणाम––

(१) वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं मे।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद्वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये॥
(ऋ. ६।६।६)

(२) अन्धन्तमः प्रविशन्ति (यजु. ४०।६)

(३) असुर्या नाम ते लोका अन्धेनतमसावृताः। (यजु. ४०।३)।

(२) अक्लिष्टवृत्तियों का परिणाम––

(१) यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतं प्रजासु। (यजुः३४।३)

(२) येनेदंभूतंभुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता। (यजु.: ३४।४)।

(३) यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। (यजुः३४।५)।

(४) सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते (यजुः ३४।६)।

६. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः—

(१) व्रतंचरिष्यामि । (यजु. १।५) ।

(२) दुरितानि परासुव । (यजु: ३०।३) ।

(३) कुर्वन्नेवेहकर्माणि । (यजु: ४०।१)

(४) तपश्चैवास्तां कर्मचान्तर्महत्यर्णवे ।
(अथर्व. ११।८।६) ।

७. स तु दीर्घकालसत्कारासेवितोदृढ़भूमिः—

(१) भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ।
(यजु. ४०।१६) ।

(२) कस्मैदेवाय हविषाविधेम ।
(यजु:१३।४) ।

(३) महे च न त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्

८. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—

(१) सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर - शुद्धमपापविद्धम् । (यजु:४०।८) ।

(२) अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । (ऋ.)

९. सपूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्—

(१) एषोहदेवः प्रदिशोनुसर्वाः पूर्वोहजातः ।
(यजु: ३२।४)

(२) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् । (यजु:१३।४) ।

(३) याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । (यजु:४०।८) ।

(४) बृहस्पते प्रथमंवाचो अग्रंयत्प्रैरतनामधेयं दधानाः । (ऋ.१०।७१।१) ।

१०. तस्यवाचकः प्रणवः—

(१) सोसावादित्ये पुरुषः सोसावहम् (ओ३म्
(यजु: ४०।१७) ।

११. तज्जपः—

(१) ओम्प्रतिष्ठ । (यजु: २।१३) ।

(२) ओ३म् । क्रतोस्मर । (यजु: ४०।१५)

(३) नामनाम्नाजोहवीमि ।
(अथर्व. १०।७।३१) ।

१२. यथाभिमतध्यानाद्वा—

(१) प्रातरग्नि प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणाप्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिप्रातःसोममुतरुद्रं हुवेम ॥
(यजु: ३४।२४ ।

(२) उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् । (अथर्व १३।४(६) १ ।

(३) अम्भोअमो महः सह इतित्वोपास्महे वयम् । अथर्व १३।)

(४) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः
(यजु: ३२।१) ।

(५) शन्नोमित्रः शं वरुणः शन्नोभवत्वर्यमा ।
(यजु: ३६।९) ।

१३. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः—

(१) योसावादित्येपुरुषः सोसावहम् ।
(यजु: ४०।१७) ।

(२) वायुरनिलममृतम् (यजु: ४०।१५) ।

(३) उपस्थायप्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश । (यजु: ३२।११) ।

(४) तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् । (यजु: ३२। १२) ।

—अन्तरायाभावश्च—

(१) विनाशेन मृत्युंतीर्त्वा-अविद्यया मृत्युं-तीर्त्वा—(यजु:४०।९-१२) ।

(२) तत्रको मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।
(यजु: ४०।७) ।

(३) दुरितानि परासुव (यजुः ३०।३) ।

(१४) योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः——

(१) इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। (यजुः१।५)

(२) दुरितानिपरासुव । यद्भद्रंतन्न आसुव। (यजुः ३०।३) ।

(३) युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः—अग्नेनयसुपथाराये । (यजुः ४०।१६) ।

(४) अविद्ययामृत्युंतीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते । (यजुः ४०।१४) ।

(१५) यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोष्टावंगानि सार्वभौममहाव्रतम्——(यम-नियम) ।

(१) उपयामगृहोसि (यजुः५।३६) ।

(२) व्रतंकृणुत (यजुः४।११) ।

(३) व्रतंचरिष्यामि (यजुः १।५) ।

(४) व्रतमचारिषम् (यजुः २।२८) ।

(५) व्रतेनदीक्षामाप्नोति (यजुः १६।३०) ।

(१) यम-(१)अहिंसा--(१) माहिंसीः पुरुषं-जगत् (यजुः१६।३

(२) पशून्पाहि । (यजुः १।१) ।

(३) मित्रस्याहंचक्षुषासर्वाणिभूतानि समीक्षे । (यजुः ३६।१८) ।

(२) सत्य—— (१) इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि । (यजुः १;५) ।

(२) अवोचाम महते सौभगाय सत्यम् ।(ऋ.८।५६।५)

(३) ऋतंवदिष्यामि सत्यंवदिष्यामि (तैत्तिरीय) ।

(३) अस्तेय– (१) मावस्तेन ईशत । (यजुः १।१) ।

(२) मा गृधःकस्यस्विद्धनम् । (यजुः ४०।१) ।

(४)ब्रह्मचर्य– (१) ब्रह्मचारीब्रह्मभ्राजत् – पृथिव्यां बहुरोचते । (अथर्व. ११।५।२४)

(२) ब्रह्मचर्येणतपसादेवामृत्युमुपाघ्नत । (अथर्व ११।५।१६) ।

(५)अपरिग्रह- (१) शतहस्त समाहरसहस्रहस्त संकिर । (अथर्व४।३।५२) ।

(२) वयं रायस्पोषस्य ददितारः स्याम । (यजुः७।१४) ।

(३) प्रत्युष्टाअरातयः । (यजुः १।७) ।

(२) नियम– (१)शौच——

(१) शुद्धाः पूता भवत

(२) वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि । (यजु.६।१४) ।

(३) शुचिरापूत एमि । (यजुः ४।२) ।

(२) सन्तोप–

(१) तेन त्यक्तेन भुंजीथाः । (यजुः ४०।१) ।

(२) मागृधः कस्यस्विद्धनम् । (यजुः ४०।१) ।

(३) तप——

(१) दीक्षातपसोस्तनूरसि । (यजुः ४।२)

(२) भृगूणामंगिरसांतपसातप्य-
ध्वम् । (यजु:१।१८) ।

(४) स्वाध्याय—
(१) देवस्य पश्य काव्यम् ।
(अथर्व ९।१०।९) ।
(२) पावमानीर्योऽध्येति ।
(साम उ.५।२।८।२) ।
(३) ओ३म् क्रतोस्मर ।
(यजु: ४०।१५) ।
(४) आधीतं च मे यज्ञेन कल्प-
न्ताम् । यजु:१८।२)) ।

(५) ईश्वरप्रणिधान—
(१) स्तुहिदेवं सवितारम् ।
(२) प्रजापतेनत्वदेतान्यन्यो -
विश्वाजातानिपरिता -
वभूव ।(ऋ.१०।१२१।१०)

(३) आसन—स्थिरसुखमासनम्—
(१) निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत ।
(यजु: १९।६२) ।
(२) आसीनासो अरुणीनामुपस्थे ।
(यजु: १९।६३) ।
(३) आसद्यास्मिन्बर्हिषिमादयध्वम्
(यजु: २।१२) ।
(४) निहोता सत्सिबर्हिषि
(साम पू.१११) ।

(४) प्राणायाम—श्वासप्रश्वासयोर्विच्छेदः—
(१) नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था
अमृतः । (यजु: १९।९०)
(२) प्राणं ते शुन्धामि । (यजु:६।१४
(३) प्राणश्चमेऽपानश्चमेव्यान -
श्चमेऽसुश्चमे ।
(यजु: १८।२) ।

(५) प्रत्याहार—
(१) सं ते मनो मनसा संप्राणेन
गच्छताम् (यजु:६।१८)
(२) मनोमेधामग्निंप्रयुजं
स्वाहा । (यजु:११।६६)
(३) चित्तं विज्ञातमग्नि प्रयुजं
स्वाहा । यजु:११।६६)

(६) धारणा—देशबन्धश्चित्तस्य -
धारणा—
(१) तत्सवितुर्वरेण्यम्
यजु: ३६।३)
(२) अग्निमीडे पुरोहितम् ।
(ऋ. १।१।१) ।

(७) ध्यान एवं (८) समाधि—
तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्—
(१) भर्गोदेवस्य धीमहि ।
(यजु: ३६।३) ।
(२) उद्वयं तमसस्परि स्वः
पश्यन्तउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्योति-
रुत्तमम् ॥ (यजु:२०।२१)
(३) वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा
सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
(यजु: ३२।७) ।

सम्पादकीय टिप्पण्यः

ज्ञानविज्ञाननिधिरयं वेदो न कस्यापि देशस्य सम्प्रदायस्य जाते र्वा धर्मग्रन्थोऽपितु त्रिसप्तात्मक विश्वरूपधारिणः सर्वज्ञस्य वाचस्पतेरपूर्वोऽयं ब्रह्मराशिरनादिकालान्मानवजातिं दिव्यतां प्रत्यारोहणाय प्रेरयन्नास्ते । तदाज्ञां शिरसि धृत्वा ये व्रतपरायणाः पवित्रात्मानस्तेषामेवायं महान् ग्रन्थ इति निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यतीति श्रौतवचनप्रामाण्यात् स्फुटमवगम्यते यज्जगज्ज्ञानमाध्यमेन ब्रह्मोपलब्धावेव वेदानां सारतत्त्वम् । ब्रह्मोपलब्धिश्च विना योगसाधनं न कथमपि सम्भवति । योगसाधनानि च वेदेषु पदेपदे दृग्गोचरीभवन्ति । अतो वेदेषु योगसाधनानां प्रमुखं स्थानमिति सुतरां सिद्धम् । ये च कर्मकाण्डस्य हीनतां निघ्नत्वं वा प्रतिपादयन्ति ते वेदोदितस्य कर्मणः रहस्यं सारगर्भितं स्वरूपं न विजानन्ति । एकस्यैव वस्तुनः कर्मब्रह्माभिधे पूर्वोत्तरनामनी द्वे पार्श्वे विद्येते । एकस्यैव निःश्रेण्याः सोपानद्वयम् । प्रथमसोपानारोहणानन्तरमेवोपरितने सोपाने समारोहणं सम्भवति : कथम् ? तदुच्यते, कर्मणः सम्बन्धः प्रकृतिसमुत्थजगता तदुत्पन्नदेहेन वा विद्यते, ब्रह्मणश्चात्मतत्त्वेन सह । भौतिकदेहमविगणय्यात्मतत्त्वोपलब्धिर्दुर्घटाऽसम्भवप्राया च । देहं शुद्धं पवित्रं निर्मलं च विधाय दिव्यत्वं च सुसम्पाद्य तद् द्वाराऽऽत्मज्योतिषः प्रसारो ब्रह्माण्डे सर्वत्र सुकरः सम्पद्यते । अणुरप्यात्मा विभुर्जायते । कर्मकाण्डोऽविद्यायाः क्षेत्रं ब्रह्मकाण्डश्च विद्यायाः । विद्याविद्ये उभे उपादेये स्तः । जीवनेऽनयोः समन्वय एवान्धन्तमसमपहन्तुं समर्थः । योगदृष्ट्या विचारयामश्चेत् कर्मकाण्डाभिधं यद्यज्ञयागादि जातं तत् शरीरेन्द्रिय मनोबुद्ध्यन्तर्गतं विविधसाधनसंवलितं यौगिकक्रियावितानमेव प्रद्योतयति । ब्रह्मकाण्डश्चात्मतत्त्वस्योद्भावनं तदुपलब्धिश्चेति मन्तव्यम् । अतः किमायातम्—बाह्ययज्ञयागादयस्त्वन्तः प्रवृत्तानामध्यात्मसम्बन्धिक्रियाकलापानामेवानुकृतयः सन्ति । देहप्राणादिसम्बद्धयौगिकप्रक्रियाणामेव कर्मकाण्डान्तर्गतत्वं विभावनीयम् । अतो यज्ञयागादीनामध्यात्मक्षेत्रेऽपि व्याख्या विधातव्या, यथाऽस्माभिरन्यत्र प्रदर्शिता । अनेन कर्मकाण्डस्यापरिहार्यत्वं स्फुटं जायते । पुरातनी सा वेदव्याख्यासरणिर्महर्षिप्रणीतेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु सुरक्षिता तिष्ठति । अधुना न कोऽप्यनुसरति तां निगूढामुच्चभूमिकास्थितां यौगिकीं सरणिम् । पुराकाले राज्ञां श्रेष्ठिप्रवराणां च साहाय्येन प्रेरणया च तेषां संस्कृतस्य शास्त्राणां च पठनं पाठनं सततं प्रचलतिस्म परम द्य ते विनष्टाः । अधुना भारतीयसर्वकारस्य नेतृवर्गाणां चैषां सुरक्षायै समुन्नत्यै च मनागपि रुचि र्न विलोक्यते । यच्च भारतीयविश्वविद्यालयेषु यथाकथञ्चिदेषामध्ययनमध्यापनं च प्रचलति, हन्त, तदांग्लभाषामाध्यमेन भाषावैज्ञानिकानां दृष्ट्या जायते । संस्कृतं संस्कृतेनैव स्वगुह्यं रूपं विवृणोति । वेदाश्चर्षीणां भाष्यैः स्वान्तर्निहितसारतत्त्वं गुह्यं प्रच्छन्नं च रहस्यं योगाध्वनिप्रवृत्तेभ्यः प्रकटयन्तीति-

बोध्यम् । तदेतत् सर्वं सुदूरमस्माभिः प्रतीयते यतो हि, आंग्लसंस्कृतिभाषाभ्यां निगडितं भारतीय-जनमानसम् । तदुच्छेदायास्माकमेष प्रयत्न आसीत् अत्रास्माभिः साफल्यं प्राप्तमिति तु न ब्रूमः पाठका एव तत्र प्रमाणम् । यै वेदविदैः प्रौढ़पाण्डित्यपूर्णाः रचनाः संप्रेष्य वयमनुगृहीतास्तेभ्यो धन्यवाद-राशयो वितीर्यन्तेऽस्माभिः । अन्ते वयमेतदपि स्व-कर्तव्यं मन्यामहे यत् लेखेषु प्रकटितविचाराणां सत्यासत्यनिर्णयाय लेखका एव प्रमाणभूता न वयम् ।

प्रिय पाठकवृन्द !

यह वेदयोगांक आपके समक्ष प्रस्तुत है । इसमें कोई शक नहीं कि इस अंक में वेद के कई प्रौढ विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण लेख हैं पर कई लेख ऐसे भी हैं जिन्होंने वेदों को छूआ तक नहीं । उपनिषदों गीता तथा योगदर्शन आदि शास्त्रों में योग सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है । इन्हें आधार बनाकर तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है, पर वेदों में योग के सम्बन्ध में क्या आता है ? उसकी क्या सीमा है? विद्यमान योग प्रणालियों से उसमें क्या भेद है इत्यादि अनेकों विचारणीय विषय हो सकते हैं इस सम्बन्ध में हमारा प्रयत्न कहां तक सफल हुआ है यह निर्णय हम पाठकों के ऊपर ही छोड़ते हैं मौलिक लेख लिखना और विशेषकर वैदिक योग पर लिखना अतिदुष्कर है यह तो कोई प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही भगवत् कृपा से लिख पाता है । ऐसे प्रतिभावान् विद्वानों, लेखकों का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं । लेख में प्रकटित विचारों के प्रति लेखक ही प्रमाणभूत है सम्पादक नहीं । अन्त में परमप्रभु से हमारी प्रार्थना है कि हमारे अन्दर योगबुद्धि को जागरित करे ।



साहित्य समीक्षा

राजरत्न श्रीमान जी कालिदास मेहता स्मृति ग्रन्थ

प्रकाशक—राजरत्न श्री नानजी कालिदास मेहता स्मृति-ग्रन्थ सम्पादन समिति, आर्यकन्या गुरुकुल पो. बा. नं. १ पोरबन्दर (गुजरात)। पृष्ठसंख्या—१म खण्ड+२य खण्ड =११५२

श्रेष्ठिप्रवर स्व० श्रीमान श्री कालिदास मेहता की स्मृति में उनके पारिवारिक जनों ने यह विशाल स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। यह स्मृति-ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड के ११ उप-खण्ड हैं जिनमें कुछ निम्न प्रकार हैं—-संवेदन-संस्मरण, संस्कृति, शिक्षण, धर्म, तत्त्वज्ञान, प्रकृति-दर्शन और प्रवास, तथा विज्ञान।

इसी भांति द्वितीय खण्ड—आयुर्वेद, इतिहास पुरातत्त्व, शिल्प और स्थापत्य, नृत्य नाट्य, चित्र, संगीत, साहित्य आदि १२ उपखण्डों में विभक्त है। इस स्मृति ग्रन्थ में विषय निर्वाचन तथा उपस्थापन अति सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्मृति-ग्रन्थ में प्रकाशित लेख हिन्दी गुजराती तथा इंग-लिश इन तीनों भाषाओं में निबद्ध है।

प्रायः सारे लेख प्रौढ़-पाण्डित्यपूर्ण तथा सार-गर्भित हैं। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की यह अनुपम निधि चिरकाल तक सुरक्षित रखने योग्य है।

स्व० श्री मेहता जी पर वेद का यह वाक्य पूर्णरूप से चरितार्थ होता है कि "शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।" उनका जीवन सादा तथा सरल था, वे कर्म में विश्वास रखने वाले तथा दृढ़निश्चयी थे। अर्थसमुद्र में डुबकी लगाते हुए भी पद्मपत्रमिवाम्भसः के समान अलिप्त थे। ऐसे महापुरुष का अभिनन्दन कर ग्रन्थ सम्पादन समिति तथा पारिवारिक जनों ने उनका समुचित श्राद्ध किया है ऐसे सर्वोत्तम ग्रन्थ के सम्पादन-कर्ता धन्यवाद के पात्र हैं।

आध्यात्मिक मुनिभाष्य

भाष्यकर्ता—श्री स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक—विद्यामार्तण्ड।

पता—सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दयानन्द भवन, (रामलीला मैदान) न्यू देहली १।

मूल्य १३)

स्वामी ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला का यह ७२वां पुष्प है। इससे पूर्व पूर्वार्चिक पर स्वामी जी महाराज का सुन्दर सर्वगुण सम्पन्न भाष्य प्रकाशित हुआ था और पत्रिका के समीक्षास्तम्भ में उसकी समीक्षा भी प्रकाशित हुई थी। स्वामी दयानन्द ने सामवेद को उपासना का वेद बतलाया है। सामवेद स्तुति-परक है, स्तुति व उपासना में पुनरुक्ति दोष नहीं होता प्रत्युत गुण होता है। परन्तु कइयों का यह कहना है कि साम का सामत्व साम गान में है न कि अर्थ में। इसी करण साम को उद्गाता (उद्गान करने वाला) का वेद माना गया है। यह एक अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है।

अर्थ की दृष्टि से देखें तो सामवेद का आध्यात्मिक अर्थ ही उपयुक्त है। स्वामी जी महाराज वेदों के प्रकाण्ड पंडित है । आर्य समाज में वेदों के ऐसे धुरन्धर विद्वान् एक प्रकार से नहीं हैं। विद्वानों व संन्यासियों के प्रति जो उपेक्षा भाव आर्यसमाज में दृष्टिगोचर होता है उसे देखते हुए यही प्रतीत होता है कि आर्यसमाज में सच्चे विद्वानों का अभाव हो जायेगा।

पुस्तक के अन्त में स्वामी जी महाराज ने जो वक्तव्य दिया है और अपनी दयनीय स्थिति का चित्रण किया है वह बिल्कुल सही है। हम स्वामी जी महाराज का हार्दिक धन्यवाद करते हैं कि उन्होंने अनेकों विपरीत स्थितियों में भी वेद सम्बन्धी जो महान् साहित्य पैदा किया है, वह उनकी कर्तव्यबुद्धि का द्योतक है और सबके लिए अनुकरणीय है। सब वेद-प्रेमी आर्यजनों का यह कर्तव्य है कि वे सामवेद भाष्य के दोनों भागों को खरीद कर स्वामी जी महाराज की सहायता करें और अपने वेद ज्ञान की वृद्धि करें।

भगवद्दत्त

बिन चशमें की आंख

लेखक---श्री स्वामी सत्यानन्द पुरी वेदान्ताचार्य, गुरुधाम आश्रम, संन्यास रोड, कनखल। मूल्य ६.००।

इसके लेखक हैं---वेदान्ताचार्य, स्वामी श्री सत्यानन्द पुरी। गुरुधाम, संन्यास रोड, कनखल। मुद्रक हैं--श्री सुरेशचन्द्र वैष्णव, मैनेजर--गुरुकुल कांगड़ी मुद्रणालय, हरिद्वार। स्वयं लेखक इसके प्रकाशक हैं।

लेखक ने इस पुस्तक में वेदान्त के शांकर सम्प्रदायानुसारी कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया है। लेखक का विचार है, कि वे सिद्धान्त जिस रूप में शांकर सम्प्रदाय में अभिमत हैं, वह यथायथ नहीं है। उनमें कुछ संशोधन व सुझाव अपेक्षित हैं; और उनको लेखक ने मनोरञ्जक कल्पित कहानियों के द्वारा सरल सुगम भाषा में बहुत रुचिकर रीति पर प्रस्तुत किया है।

जहां तक समझ सका, लेखक वेदान्त के उसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जिसके सिद्धान्तों का विवेचन कर उसमें अपने उपयुक्त सुझाव दिये हैं। संभवतः इसी विशेषता को लक्ष्य कर प्रस्तुत पुस्तक को उक्त नाम दिया गया है। तात्पर्य है, लेखक ने सम्प्रदायानुगत विचारों व मन्तव्यों के रंगीन चश्मे को उतार कर स्वतन्त्र स्वच्छन्द आंखों से उन विचारों को देखा समझा है; और जो सचाई जंची, उसको निःशंक प्रकट किया है।

निःसन्देह लेखक का यह साहसपूर्ण प्रयास अभिनन्दनीय है। इस प्रकार के विवेचन सचाई को ढूंढने में महत्त्वपूर्ण सहयोग देते हैं। देखना चाहिये, लेखक इस दिशा में कहां तक सफलता प्राप्त कर सका है। जिन सिद्धान्तों पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उनमें से कुछ ये हैं---

१---दृष्टि-सृष्टिवाद, अथवा अजातिवाद।
२---जागृत दशा स्वप्न के समान है।
३---जगत् मिथ्या, तुच्छ, अलीक है।
४---सुषुप्ति काल में जगत् लुप्त अथवा नष्ट हो जाता है, इत्यादि।

पहले दो सिद्धान्तों की मान्यता पर अगले दो अवलम्बित हैं। विद्वान् लेखक का कहना है, कि

पहले दो सिद्धान्तों का जो स्वरूप वेदान्त के शांकर सम्प्रदाय में अभिमत है, वह ठीक नहीं है। तीन पात्रों में अलग-अलग रक्खा तप्त, शीत और सादा जल देखने मात्र से प्रतीति मात्र से वैसा है; ऐसी मान्यता सर्वथा निस्सार है। जल की विभिन्न पात्रों में वस्तुस्थिति वैसी है, उसी के अनुसार वह तप्त, शीत व सादा अनुभव होता है। इसलिये इसे दृष्टि-सृष्टि न कहकर 'सृष्टि-दृष्टि' कहना चाहिये। विचारक लेखक ने जाग्रत और स्वप्न का भी परस्पर भेद प्रतिपादित किया है। जाग्रत में अनुभूत पदार्थ स्वाप्न पदार्थ के समान नहीं हैं। इसीलिये स्वाप्न पदार्थों के समान जगत् को मिथ्या नहीं मानना चाहिये, अनित्य अवश्य है। सुषुप्ति में भी संसार नष्ट या लुप्त नहीं हो जाता। वहां वस्तुतः देखने वाला ही लुप्त या सुप्त रहता है, संसार तो तब भी अपनी स्थिति में वैसा ही बना रहता है। सुषुप्ति में संसार को नष्ट कहना ऐसा ही है, जैसे-कबूतर के आंख बन्द कर लेने पर सामने बैठी बिल्ली को मरा समझ लिया जाय।

जहां तक पुस्तक के नाम-करण का आधार विचार में आता है, कोई ऐसा बुद्धिजीवी व्यक्ति अतीत व वर्त्तमान का दृष्टि में नहीं आया, जिसकी बुद्धि या विचार की आंखों पर रंगीन चश्मा न लगा हो। प्रयत्न के बा-वजूद विद्वान लेखक भी अपने आप को इससे अछूता नहीं रख सका। अपने 'प्राक्कथन' के पृष्ठ १६ पर लेखक लिखता है—

'जैसे किसी बीज से वृक्ष, समुद्र से तरंग, पृथिवी से पार्थिव पदार्थ उत्पन्न होते हैं; ठीक उसी प्रकार सर्वात्मा रूप आदि बीज ब्रह्म से यह संसार वृक्ष बना है।'

ये पंक्तियां इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं, कि लेखक की विचार-चक्षुओं पर गहरा रंगीन चश्मा लगा है। यदि लेखक का इस सिद्धान्त में विश्वास है, और इसे मान्यता देनी चाहिये; तो पुस्तक का समस्त विवेचन बेकार हो जाता है। इस मान्यता को अंगीकार कर दृष्टि-सृष्टिवाद, स्वप्न के समान जाग्रत, और जगत् को मिथ्या मानना ही होगा। यदि बीज से वृक्ष के समान ही ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति है, तो ब्रह्म को परिणामी होने से बचाया नहीं जा सकता। दृष्टि सृष्टि वाद, स्वप्न आदि के दृष्टान्त और जगत् को प्रतीति मात्र मिथ्या मानना ये सब उसे बचाने के लिये बाड़ खड़ी (कण्टक शाखा आवरण) की गई हैं।

लेखक के साहस व स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति का हार्दिक अभिनन्दन है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह पुस्तक पढ़ने के लिये साग्रह निवेदन है।

उदयवीर शास्त्री
(गाजियाबाद)

कुलपति की डायरी

श्री ब्र० धर्मवीर एम० ए० (संस्कृत द्वितीयवर्ष)

१ फरवरी, गुरुकुल : विश्वविद्यालय इतिहास विभाग द्वारा समायोजित पारितोषिक वितरण समारोह में भाग लिया व अध्यक्षता की।

२ फरवरी, दिल्ली : विश्वविद्यालय के कार्यार्थ सम्बद्ध अधिकारियों से भेंट की।

३ फरवरी, हांसी : नेहरू कालेज हांसी में समायोजित प्रान्तीय वाद-विवाद एवं गायन प्रतियोगिता समारोह की अध्यक्षता की एवं विजयी छात्रों को पुरस्कृत किया।

१० फरवरी, छपरौली : विद्यामन्दिर इण्टर कालेज छपरौली में भाषण दिया।

१५ फरवरी, गुरुकुल : विद्या सभा भवन में समायोजित राष्ट्रिय छात्र सेना के वार्षिक सत्र समापन समारोह में भाग लिया और छात्रों व अधिकारियों को सम्बोधित किया।

१७ फरवरी, गुरुकुल : विश्वविद्यालय के वनस्पति-विज्ञान विभाग द्वारा समायोजित परिसंवाद गोष्ठी में भाग लिया व उद्घाटन भाषण दिया।

१८ फरवरी, गुरुकुल : आर्यसमाज मन्दिर, गुरुकुल के साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित हुए और "वर्तमान युग में आर्यसमाज की आवश्यकता" विषय पर सदस्यों को सम्बोधित किया।

२४ फरवरी, गुरुकुल : विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान एवं इतिहास विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में समायोजित अस्पृश्यता निवारण संगोष्ठी का उद्घाटन किया।

२८ फरवरी, दिल्ली : शिक्षा कृषि-स्वास्थ्य मन्त्रालय के सम्बद्ध अधिकारियों से भेंट की।

४ मार्च, गुरुकुल झज्जर : प्राचीन आर्ष पद्धति के एकमात्र प्रशिक्षण केन्द्र, प्रसिद्ध विद्या संस्थान गुरुकुल झज्जर के वार्षिक समारोह में सम्मिलित हुए। और उपस्थित आर्य जनता को सम्बोधित किया।

५ मार्च, दिल्ली : दिल्ली विश्वविद्यालय के शिवाजी कालेज में "संस्कृत का भारतीय भाषाओं और साहित्य पर प्रभाव" विषय पर भाषण दिया।

८ मार्च गुरुकुल : इंगलिश लिटरेरी एसोसिएशन के संयोजन में सम्पन्न विशिष्ट व्याख्यान समारोह की अध्यक्षता की और वक्ता महोदय का परिचय दिया व धन्यवाद ज्ञापन किया।

९ मार्च, दिल्ली : विभिन्न अधिकारियों से भेंट की।

१० मार्च, नरेला : आर्यसमाज नरेला के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए व जनता को सम्बोधित किया।

११ मार्च, गुरुकुल भैंसवाल : गुरुकुल विद्यापीठ के वार्षिक समारोह में उपस्थित हुए व जनता को सम्बोधित किया, संस्था के अधिकारियों से प्रगति पर विचार विमर्श किया।

१२ मार्च, दिल्ली : हिन्दी राज्यों के समस्त विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की हिन्दी पुस्तकों

के सम्बन्ध में विज्ञान भवन में हुई बैठक में भाग लिया।

शिक्षा मन्त्रालय के अधिकारियों से भेंट की।

१४ मार्च, गुरुकुल : इन्टर विज्ञान विद्यालय के विदाई समारोह में भाग लिया।

२३ मार्च, गुरुकुल : विश्वविद्यालय परिसर के सन्निकट समायोजित कृषक मेले में उद्घाटन भाषण दिया।

२४ मार्च, गुरुकुल : विश्वविद्यालय की वित्त समिति की बैठक में सम्मिलित हुए व बैठक की अध्यक्षता की।

२५ मार्च, गुरुकुल : कृषक मेले के समापन समारोह में भाग लिया।

विश्वविद्यालय की कार्यकारी परिषद् व प्रबन्ध समिति की बैठक में भाग लिया।

२७ मार्च, विश्वविद्यालय द्वारा समायोजित निबन्ध प्रतियोगिता के विजयी छात्रों को पुरस्कार प्रदान किया व समारोह की अध्यक्षता की।

२७ मार्च, गुरुकुल : विद्यालय विभाग के विदाई समारोह में सम्मिलित हुए व छात्रों को आशीर्वाद प्रदान किया।

२८ मार्च, दिल्ली : स्वास्थ्य मन्त्रालय के अधिकारियों से भेंट की।

३० मार्च, गुरुकुल : कृषि राज्य-मन्त्री भारत सरकार श्री प्रो० शेरसिंह जी का स्वागत किया व विश्वविद्यालय की प्रगति से उन्हें परिचित कराया।

३१ मार्च, गुरुकुल : प्रातः हिन्दी विभाग के विदाई समारोह में सम्मिलित हुए।

मध्यान्ह–परीक्षा समिति की बैठक में भाग लिया।

गुरुकुल समाचार

ब्रह्मचारी धर्मवीर एम. ए. (संस्कृत द्वितीय वर्ष)

इतिहास विभाग में पारितोषिक वितरण समारोह—

विगत मास इतिहास विभाग द्वारा समायोजित सांस्कृतिक समारोह में उत्तम स्थान प्राप्त करने वाले छात्रों को उनकी श्रेष्ठ कला के लिए पुरस्कृत किया गया। १ फरवरी ११ बजे वेद मन्दिर में यह विशिष्ट समारोह कुलपति श्री रघुवीरसिंह जी शास्त्री की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। पुरस्कार वितरण श्रीमती शास्त्री जी ने अपने करकमलों द्वारा किया। सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में श्रीकण्ठ शर्मा को कुलपति जी ने विशेष रूपेण पुरस्कृत किया।

समारोह का संयोजन श्री जबरसिंह संगर प्रवक्ता इतिहास विभाग ने किया। समारोह की सफलता के लिए श्री शास्त्री जी ने विभाग के प्राध्यापकों व छात्रों की सराहना की, श्री विनोदचंद्र जी अध्यक्ष इतिहास विभाग द्वारा आभार प्रदर्शन व धन्यवाद के साथ समारोह सम्पन्न हुआ।

वेद एवं कला महाविद्यालय राष्ट्रीय छात्र सेना विभाग द्वारा सत्र समापन समारोह सम्पन्न—

१५ फरवरी को अपराह्न में विद्यासभा भवन में यह समारोह आयोजित किया गया। प्रथम श्री कुलपति जी की अनुमति से ले० श्री वीरेन्द्र अरोडा द्वारा इस वर्ष का वार्षिक विवरण एवं प्रगति आख्या प्रस्तुत की गयी, उत्साही छात्रों को पुरस्कृत व प्रशंसित किया गया गत वर्ष एन.सी.सी. परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले निम्न छात्रों को प्रमाण-पत्र प्रदान किए गये श्री मदनलाल, श्री बुद्धदेव, श्री सत्यवीर, श्री गणेश।

कर्नल नौनिहालसिंह ने गुरुकुल विभाग की कार्यतत्परता की प्रशंसा करते हुए छात्रों को उनकी कर्त्तव्य निष्ठा के लिए बधाई दी।

अन्त में कुलपति जी ने छात्रों के उज्ज्वल-भविष्य के लिए शुभकामना प्रकट की और अधिकारियों द्वारा भविष्य में अधिक अच्छा प्रयास किया जायेगा ऐसी आशा प्रकट की। संक्षिप्त जलपान के साथ समारोह सम्पन्न हुआ।

विज्ञान विभाग द्वारा परिसंवाद का समायोजन—

१७ फरवरी को विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से एक परिसंवाद 'मानव-कल्याण में पौधे' विषय पर आयोजित किया गया।

इस परिसंवाद गोष्ठी में अनेक विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिक विद्वानों के अतिरिक्त, भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान दिल्ली, इन्डियन ड्रग्स एण्ड फार्मेस्टिकल लिमिटिड ऋषिकेश आदि से ५० से अधिक वैज्ञानिकों ने भाग लिया इस परिसंवाद का उद्घाटन कुलपति श्री रघुवीरसिंह जी शास्त्री ने किया तथा अध्यक्षता का गुरुतर भार श्री गिरि-

राजसिंह सरोही—अध्यक्ष पादपशरीर क्रिया विज्ञान कृषि अनुसन्धान संस्थान दिल्ली ने वहन किया। उद्घाटन भाषण करते हुए श्रीशास्त्री जी ने वैज्ञानिकों का ध्यान पोषक तत्व के रूप में पौधों से प्रोटीन को अधिक मात्रा में कैसे प्राप्त किया जावे इसके सरल उपाय खोजने चाहिये।

इस परिसंवाद में, मटर से उर्वरता—पी०आर० महादेवन् ऋषिकेश, गुगुल से रक्त चाप में लाभ—डा० विनोदप्रकाश पान के गुण—डा० राजेन्द्र-कुमार, प्रकाश संश्लेष—डा० जी० एस० सरोही ए.के. श्रीवास्तव, तुरई की अधिक उपज-एम.पी. कौशिक मु. नगर हैजे की दवा मदार—श्री वैद्य रामनाथ अध्यक्ष द्रव्यगुण विभाग आदि विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर अपने मौलिक अनुसन्धान पूर्ण विचार प्रस्तुत किए।

इस गोष्ठी का संयोजन श्री विजय शंकर अध्यक्ष वनस्पति विज्ञान विभाग ने किया।

इस सफल समायोजन के लिए हम पाठकों की ओर से विभाग को बधाई देते हैं।

अस्पृश्यता निवारण संवाद गोष्ठी—

विश्वविद्यालय के इतिहास एवं मनोविज्ञान विभाग के संयुक्त प्रयास से २४ फरवरी को विद्यासभा भवन में अस्पृश्यता निवारण अभियान के सन्दर्भ में एक संवादगोष्ठी का आयोजन किया गया।

इस गोष्ठी का उद्घाटन कुलपति श्री शास्त्री जी ने किया और बतलाया कि अस्पृश्यता निवारण को सैद्धान्तिक व व्यावहारिक रूप में सफलता पूर्वक अपनाने वाली प्रथम रास्ट्रिय संस्था गुरुकुल आर्य-समाज है जिसने मानवता व राष्ट्रिय एकता के लिए अस्पृश्यता निवारण को अनिवार्य समझा।

इस गोष्ठी की अध्यक्षता मनोविज्ञान विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय के अध्यक्ष श्री चन्द्र ने की, इसके अतिरिक्त इस गोष्ठी में डा० राजनारायण, भू० पू० अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग लखनऊ विश्व-विद्यालय, डा० एस. डी. सिंह मनोविज्ञान विभाग मेरठ विश्वविद्यालय ने भाग लिया।

इस गोष्ठी का संयोजन श्री ओम्प्रकाश मिश्र, श्री विनोदचन्द्र सिन्हा अध्यक्ष मनोविज्ञान व इति-हास विभाग ने किया।

इंगलिश विभाग में विशिष्ट व्याख्यान—

८ मार्च को गुरुकुल विश्वविद्यालय की इंगलिश लिटरेरी एसोसियेशन के तत्त्वावधान में विद्यासभा भवन में शिवाजी कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राचार्य श्री डा० तुलसीराम जी का व्याख्यान 'फंक्शन्स आफ पोयट्री, विषय पर सम्पन्न हुआ।

मान्य वक्ता ने अपने विस्तृत अध्ययन व गहन चिन्तन के परिणाम स्वरूप प्राप्त गम्भीर विचार, प्रवाहमयी सरल भाषा में इस प्रकार मे उपस्थित किए कि सभी श्रोताओं ने स्वयं को बहुत लाभान्वित अनुभव किया।

अन्त में कुलपति श्री शास्त्री जी ने विद्वान् वक्ता का आभार प्रदर्शन किया और सभा समाप्त हुई, सभा का संयोजन श्री सदाशिव भगत अध्यक्ष इंगलिश विभाग ने किया और धन्यवाद ज्ञापन श्री प्रेमनारायण शुक्ल अध्यक्ष लिटरेरी एसोसि-येशन ने किया।

निबन्ध प्रतियोगिता में विजयी प्रतियोगियों को पुरस्कार—

२७ मार्च को ११ बजे विद्या सभा भवन में गुरुकुल विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा

समायोजित निबन्ध प्रतियोगिता में विजयी छात्रों को पुरस्कार प्रदान किए गए ।

"आधुनिक युग में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का महत्व" इस विषय पर स्नातक व स्नातकोत्तर श्रेणियों के छात्रों से निबन्ध आमन्त्रित किए गये थे, इसमें १८ प्रतिनिधियों ने भाग लिया, तथा कुलपति श्री शास्त्री जी की अध्यक्षता में बनी निर्णय समिति ने क्रमशः प्रथम स्थान स्थानीय, एस. एम. जे. एन. महाविद्यालय के श्री रोशनलाल, द्वितीय—देहरादून की सुश्री मञ्जु जैन तथा तृतीय श्री ओम्प्रकाश इतिहास विभाग गुरुकुल कांगड़ी को प्रदान किया और विजयी छात्रों ने समारोह में अपने निबन्ध पढ़कर सुनाये व कुलपति जी ने क्रमशः दो सौ पचास, एक सौ व पचास रुपये नकद पुरस्कार छात्रों को प्रदान किये । निर्णायक श्री डा० दीक्षित जैन कालेज सहारनपुर तथा डा० रामनाथ वेदालंकार अध्यक्ष संस्कृत विभाग गुरुकुल विश्वविद्यालय ने छात्रों की न्यूनताओं पर प्रकाश डाला । इसका संयोजन श्री विजयेन्द्र प्रवक्ता इतिहास विभाग ने किया । विजयी छात्रों के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हम समस्त कुलवासियों की ओर से हार्दिक बधाई देते हैं ।

दशम श्रेणी के छात्रों का विदाई समारोह—

दिनांक २७ मार्च, ७३ को दशम श्रेणी के छात्रों को विद्यालय के ब्रह्मचारियों की ओर से भावभीनी विदाई दी गई । समारोह का आयोजन विद्यालय के हाल में किया गया ! ब्र० सुरेन्द्र कुमार तथा ब्र० प्रमोदकुमार (बम्बई) ने मधुर गानों से समा बांध दिया ! विदाई के उपलक्ष में ब्रह्मचारियों की ओर से ब्र० प्रमोदकुमार (आरा) और ब्र० सोहनलाल तथा अध्यापकों की ओर से श्री राजकुमार जी, श्री जयप्रकाश जी, श्री सोम्प्रकाश जी, आदि के बड़े अच्छे भाषण हुए । दशम श्रेणी के छात्रों ने विद्यालय के लिए एक दीवार घड़ी उपहार स्वरूप भेंट की । ब्र० राधेश्याम ने स्वहस्त-चित्रित (अपने हाथ से बनाया हुआ) स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का सुन्दर चित्र कुलपति जी को भेंट किया । श्री सत्यवीरसिंह मलिक (मुख्याध्यापक), और श्री रघुवीरसिंह शास्त्री (उपकुलपति) ने विदाई लेने वाले ब्रह्मचारियों की विद्यावृद्धि तथा सफलता की शुभकामना की अन्त में श्री सुखवीरसिंह राणा, स० मुख्याधिष्ठाता, का उपदेशात्मक अध्यक्षीय भाषण हुआ । ब्र० शशिभूषण वर्मा ने उत्तम रीति से समारोह की कार्यवाही का संचालन किया । सभा की समाप्ति के पश्चात् सामूहिक जलपान हुआ, तदनन्तर ग्रुप फोटो आदि का आयोजन किया गया ।

विद्यालय के ब्रह्मचारियों द्वारा अद्भुत खेल प्रदर्शन—

दिनांक ८ फरवरी ७३ को साइंस कालेज तथा गुरुकुल विद्यालय के ब्रह्मचारियों के बीच क्रिकेट की शानदार क्रीड़ा-प्रतियोगिता सम्पन्न हुई । दोनों टीमों का खेल बड़ा सराहनीय रहा ! बड़े हर्ष का विषय है कि विद्यालय के ब्रह्मचारियों ने अपने नियमित अभ्यास एवं लग्न के कारण ९ विकेट से साइंस कालेज को परास्त किया । सभी दर्शकों ने ब्रह्मचारियों के खेल प्रदर्शन की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।



हांसी के ही नेहरू महाविद्यालय में आचार्य शास्त्री से प्रथम पुरस्कार ग्रहण करते हुए राजकीय महाविद्यालय रोहतक के छात्र श्री राजकुमार ।



वाद-विवाद प्रतियोगिता मण्डप की ओर प्रस्थान करते हुए गुरुकुल के कुलपति श्री शास्त्री तथा महाविद्यालय हांसी के प्राचार्य डा० रणजीतसिंह ।

विद्यालय की टीम निम्न प्रकार थी—

(१) प्रमोदकुमार आरा (२) ओम्प्रकाश मुंगेर (कप्तान) (३) बलबीरसिंह (४) सुशीलकुमार (५) रामचन्द्र (६) गिरीशपाल (७) राजीवकुमार (८) शशिभूषण वर्मा (९) श्यामकुमार (१०) रवीन्द्रकुमार (११) श्री महावीरसिंह जी (प्रशिक्षक) (१२) जीवनकुमार ।

दिनांक २, ३ तथा ४ मार्च ७३ को प्रगतिशील दल ज्वालापुर की ओर से कबड्डी की उच्चस्तर की प्रतियोगिता का आयोजन किया गया । विद्यालय के ब्रह्मचारियों ने सभी प्रतिद्वन्द्वी टीमों को परास्त किया ।

शानदार फाइनल मैच गुरुकुल विद्यालय तथा बी० एच० ई० एल० की टीमों के बीच खेला गया ।

अन्त में निरन्तर गत छः वर्षों से विजयी होने वाली बी०एच० ई० एल० की टीम को गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने ३२ अंकों से परास्त किया और प्रतियोगिता के सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी घोषित किये गये । श्री हरपालसिंह जी का चमत्कारपूर्ण खेल दर्शकों के लिए विशेष आकर्षण बना रहा । उन्हें सर्वोत्तम खिलाड़ी का विशेष पुरस्कार दिया गया ।